उपासना और साधना
का
समन्वय
— श्रीराम शर्मा आचार्य

उपासना और साधना का समन्वय

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् २०१० मूल्य : ९.०० रुपया

उपासना—ईश्वर के पास बैठना

अध्यात्म-साधना को ज्ञान और विज्ञान—इन दो पक्षों में विभाजित कर सकते हैं। ज्ञान पक्ष वह है जो पशु और मनुष्य के बीच का अंतर प्रस्तुत करता है और प्रेरणा देता है कि इस सुरदुर्लभ अवसर का उपयोग उसी प्रयोजन के लिए किया जाना चाहिए, जिसके लिए वह मिला है। इसके लिए किस तरह सोचना और किस तरह की रीति-नीति अपनाना उचित है, इसे हृदयंगम कराना ज्ञानपक्ष का काम है। स्वाध्याय, सत्संग, कथा, प्रवचन, पाठ, मनन, चिंतन जैसी प्रक्रियाओं का सहारा इसी प्रयोजन के लिए लिया जाना चाहिए।

इसी पक्ष का दूसरा चरण यह है कि धर्म, सदाचार, संयम, कर्त्तव्यपालन के उच्च सिद्धांतों को अपनाकर आदर्शवादी जीवन जिया जाए। अवांछनीय चिंतन और कर्तृत्व में ही मनुष्य की अधिकांश शक्तियों का अपव्यय होता रहता है। दुर्बुद्धिग्रस्त और दुष्कर्म निरत व्यक्ति अपना ओजस नष्ट करते रहते हैं और उस प्राणशक्ति को गँवा बैठते हैं, जो उच्चस्तरीय प्रगति के लिए उसी प्रकार आवश्यक है, जैसे मोटर के लिए पेट्रोल। बिना तेल के मोटर कैसे चलेगी? बिना प्रखर प्राणशक्ति के आत्मिक प्रगति किस प्रकार संभव होगी? अस्तु, ज्ञान-साधना द्वारा चिंतन को उत्कृष्ट और कर्तृत्व को आदर्श बनाया जाता है। यह जमीन को जोतकर, खाद-पानी लगाकर उर्वर बना लेने की तरह है। ऐसी ही परिष्कृत मनोभूमि पर उपासना का

बीजारोपण किया जाता है, तभी बोई हुई फसल लहलहाती है। ऐसी ही उर्वरा भूमि पर लगाया गया उद्यान फलता-फूलता देखा जाता है।

आत्मोत्कर्ष की आकांक्षा बहुत लोग करते हैं, पर उसके लिए न तो सही मार्ग जानते हैं और न उस पर चलने के लिए अभीष्ट सामर्थ्य एवं साधन जुटा पाते हैं। दिग्भ्रांत प्रयासों का प्रतिफल क्या हो सकता है? अंधा, अंधे को कहाँ पहुँचा सकता है? भटकाव में भ्रमित लोग लक्ष्य तक किस प्रकार पहुँच सकते हैं? आज की यही सबसे बड़ी कठिनाई है कि आत्मविज्ञान का न तो सही स्वरूप स्पष्ट रह गया है और न उसका क्रियापक्ष, साधन-विधान ही निर्भ्रांत है। इस उलझन में एक सत्यान्वेषी जिज्ञासु को निराशा ही हाथ लगती है।

हमें यहाँ अध्यात्म के मौलिक सिद्धांतों को समझना होगा। व्यक्ति के व्यक्तित्व में से अनगढ़ तत्त्वों को निकाल बाहर करना और उसके स्थान पर उस प्रकाश को प्रतिष्ठापित करना है, जिसके आलोक में जीवन को सच्चे अर्थों में विकसित एवं परिष्कृत बनाया जा सके। इसके लिए मान्यता और क्रियाक्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन प्रस्तुत करने पड़ते हैं। वे क्या हों, किस प्रकार हों, इसका शिक्षण थ्योरी और प्रेक्टिस के दोनों ही अवलंबन साथ-साथ लेकर चलना होता है। थ्योरी का तात्पर्य है—वह सद्ज्ञान, वह आस्था-विश्वास जो जीवन को उच्चस्तरीय लक्ष्य की ओर बढ़ चलने के लिए सहमत कर सके। इसे आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान और सद्ज्ञान के नामों से जाना-समझा जाता है। योग इसी को कहते हैं। ब्रह्मविद्या का तत्त्वदर्शन यही है। प्रेक्टिस का तात्पर्य है, वे साधन-विधान जो हमारी क्रियाशीलता को दिशा देते हैं और बताते हैं कि जीवनयापन की रीति-नीति क्या होनी चाहिए और गतिविधियाँ किस क्रम से निर्धारित की जानी चाहिए? साधनात्मक क्रियाकृत्यों का यह उद्देश्य समझ लिया जाए तो फिर किसी

को भी न तो अनावश्यक आशा बाँधनी पड़ेगी और न अवांछनीय रूप से निराश होना पड़ेगा।

साधना का दूसरा-पक्ष उत्तरार्द्ध, उपासना है। विविधविध शारीरिक और मानसिक क्रियाकृत्य इसी प्रयोजन के लिए पूरे किए जाते हैं। शरीर से व्रत, मौन, अस्वाद, ब्रह्मचर्य, तीर्थयात्रा, परिक्रमा, आसन, प्राणायाम, जप, कीर्तन, पाठ, बंध, मुद्राएँ, नेति, धौति, बस्ति, नौलि, बज्रोली, कपालभाति जैसे क्रियाकृत्य किए जाते हैं। मानसिक साधनाओं में प्रायः सभी चिंतनपरक होती हैं और उनमें कितने ही स्तर के ध्यान करने पड़ते हैं। नादयोग, बिंदुयोग, लययोग, ऋजुयोग, प्राणयोग, हंसयोग, षट्चक्र वेधन, कुंडलिनी जागरण जैसे बिना किसी श्रम या उपकरण के किए जाने वाले, मात्र मनोयोग के सहारे संपन्न किए जाने वाले सभी कृत्य ध्यानयोग की श्रेणी में गिने जाते हैं। स्थूलशरीर से श्रमपरक, सूक्ष्मशरीर से चिंतनपरक उपासनाएँ की जाती हैं। कारणशरीर तक केवल भावना की पहुँच है। निष्ठा, आस्था, श्रद्धा का भावभरा समन्वय 'भक्ति' कहलाता है। प्रेम-संवेदना इसी को कहते हैं। यह स्थिति तर्क से ऊपर है। मन और बुद्धि का इसमें अधिक उपयोग नहीं हो सकता है। भावनाओं की उमंग भरी लहरें ही अंतःकरण के मर्मस्थल का स्पर्श कर पाती हैं।

उपासना क्षेत्र में लोगों की असफलता का कारण यही है कि लोग उसे एकांगी बना देते हैं। उपासनात्मक कर्मकांडों को ही सब कुछ मानकर चलने से उसके साथ अंतःकरण की गहराई तक उसका प्रभाव नहीं होने पाता। उपासना स्थूल, सूक्ष्म और कारण— तीनों शरीरों से की जानी चाहिए, उन्हें उपासना के योग्य बनाया जाना चाहिए, तभी उसका समुचित लाभ प्राप्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से तीनों शरीरों के क्षेत्र और क्षमता के संबंध में हमें भली प्रकार जानकारी रखनी चाहिए।

मनुष्य के अस्तित्व को तीन हिस्सों में बाँटा गया है–सूक्ष्म, स्थूल और कारण। ये तीन शरीर माने गए हैं। दृश्य सत्ता के रूप में हाड़–मांस का बना सबको दिखाई पड़ने वाला चलता–फिरता, खाता–सोता स्थूलशरीर है। क्रियाशीलता इसका प्रधान गुण है। इसके नीचे वह सत्ता है, जिसे सूक्ष्मशरीर कहते हैं। इसका कार्य समझ और केंद्र मस्तिष्क है। शरीर विज्ञान में अनाटॉमी, फिजयालॉजी दो विभाजन हैं। मन:शास्त्र को साइकोलॉजी और पैरा–साइकोलॉजी इन दो भागों में बाँटा गया है। मन के भी दो भाग हैं—एक सचेतन, जो सोचने–विचारने के काम आता है और दूसरा अचेतन, जो स्वभाव एवं आदतों का केंद्र है। रक्त संचार, श्वास–प्रश्वास, आकुंचन–प्रकुंचन, निमेष–उन्मेष जैसी स्वसंचालित रहने वाली क्रियाएँ इस अचेतन मन की प्रेरणा से ही संभव होती हैं। तीसरा कारणशरीर–भावनाओं का, मान्यताओं एवं आकांक्षाओं का केंद्र है, इसे अंत:करण कहते हैं। इन्हीं में 'स्व' बनता है। जीवात्मा की मूल सत्ता का सीधा संबंध इसी 'स्व' से है। यह 'स्व' जिस स्तर का होता है, उसी के अनुसार विचारतंत्र और क्रियातंत्र काम करने लगते हैं। जीवन की सूत्रसंचालक सत्ता यही है। कारणशरीर का स्थान हृदय माना गया है। रक्त फेंकने वाली और धड़कते रहने वाली थैली से यह केंद्र भिन्न है। इसका स्थान दोनों ओर की पसलियों के मिलने वाले आमाशय के ऊपर वाले स्थान को माना गया है। साधना विज्ञान में हृदयगुफा में अंगुष्ठ प्रमाण प्रकाश ज्योति का ध्यान करने का विधान है। यहाँ जीवात्मा की ज्योति और उसका निवास 'अहम्' मान्यता के भावकेंद्र में माना गया है। शरीर में इसका केंद्र जिस हृदय में है, उसे अंत:करण नाम दिया गया है। 'कारणशरीर' के रूप में इसी की व्यवस्था की जाती है।

ये तीनों शरीर एक–से–एक बढ़कर क्षमताएँ अपने भीतर दबाए बैठे हैं। इनमें अस्त–व्यस्तता एवं विकृति भर जाने से वे अपनी

विलक्षण शक्ति गँवा बैठते हैं और उनके द्वारा जो लाभ मिलना चाहिए था, मिल नहीं पाता। इतना ही नहीं, वे रुग्ण होकर उलटे त्रास देने लगते हैं। तब इन विभूतियों भरे शक्ति परिवार द्वारा जो हर्षोल्लासयुक्त चमत्कारी उपलब्धियाँ मिल सकती थीं और सुर-दुर्लभ कहलाने वाला मनुष्य जीवन सार्थक हो सकता था, उसकी संभावना नष्ट हो जाती है। उलटे उस दुर्गति में पड़ना होता है, जिसमें आजकल अधिकांश मनुष्य फँसे हुए हैं।

स्थूलशरीर यदि स्वस्थ है, तो उसके द्वारा जो लाभ मिलते हैं, उनकी थोड़ी-बहुत जानकारी हम सभी को है। नीरोग शरीर देखने में सुडौल, सुंदर लगता है—उसका आकर्षण खिले फूल की तरह सभी को मोहता और आकर्षित करता है। अधिक श्रम करना, कठिन कामों को सहज निपटाकर स्वयं लाभान्वित होना और दूसरों पर छाप छोड़ना नीरोगिता की स्थिति में ही संभव होता है। इंद्रियों के दोहरे काम हैं। उनके माध्यम से क्रियाशक्ति कार्यान्वित होती है और बदले में धन, ज्ञान, अनुभव, कौशल आदि उपलब्ध करती है। ज्ञानेंद्रियों के अपने उपयोग आनंद भी हैं। जीभ से स्वाद, कामेंद्रिय से विषय सुख, नेत्रों से सौंदर्यानुभूति, कान से मधुर श्रवण, त्वचा से कोमल स्पर्श के आनंद मिलते हैं। आहार की तृप्ति, गहरी-निद्रा, स्फूर्ति एवं सक्रियता कितनी उपयोगी और सुखद है, इसे हर कोई जानता है। शरीर की विशेष साधना कर लेने पर लोग चमत्कारी प्रदर्शन करके गौरवान्वित होते हैं। शिल्पी, कलाकार, पहलवान, खिलाड़ी, सरकस के जादूगर दुस्साहस भरे कीर्तिमान स्थापित करने वाले वस्तुतः शरीर-साधना के निष्णात ही कहे जा सकते हैं। यों मनोयोग का समन्वय भी उनकी सफलताओं में जुड़ा रहता है। अकेला पंचतत्त्वों का शरीर तो बिना चेतन मन की सहायता के हिल-डुल तक नहीं सकता, फिर बड़ी उपलब्धियाँ तो उसके लिए संभव कैसे हो सकती हैं? यह मनोयोग जो शरीर-संचालन के काम

आता है, स्थूलशरीर का ही एक भाग माना गया है। इसी से मन को ग्यारहवीं इंद्रिय कहते हैं।

स्थूलशरीर की सक्षमता के फलस्वरूप ही संसार की अनेकानेक भौतिक उपलब्धियाँ मिलती हैं। सांसारिक सुखद वस्तुओं को प्राप्त करने और व्यक्तियों को सहयोग देकर बदले में सहयोग पाने का आनंद देने में शरीरगत सक्रियता ही प्रधान कारण होती है। कर्म की महिमा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। कर्मफल से ही सुख-दुःख मिलते हैं। कर्म का स्थूल परिणाम शरीरगत सक्रियता के साथ ही जुड़ता है। दंड, पुरस्कार इसी कर्मशीलता के आधार पर मिलते हैं।

पहलवानों में देखी जाने वाली बलिष्ठता, कलाकारों में पाई जाने वाली फुरती और सैनिकों जैसी चुश्ती ही मात्र आरोग्य की निशानी नहीं है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है जीवनीशक्ति की प्रचुरता, जिसे जीवट भी कह सकते हैं। रक्त अशुद्ध होने या कोई भीतरी अवयव क्षीण हो जाने पर भी इस जीवट के आधार पर कोई रुग्ण दीखने वाला मनुष्य स्वस्थ लोगों की तुलना में अधिक सक्रिय रह सकता है और अधिक महत्त्वपूर्ण काम निपटा सकता है। इसे 'जिजीविषा' का नाम ही दिया जा सकता है। इसके सहारे मौत से जूझा जा सकता है और अस्वस्थता के भार से दबे होने पर भी प्रबल पुरुषार्थियों जैसे प्रखर कर्तृत्व संपन्न करते रहा जा सकता है। भीष्म के शर-शय्या पर पड़े रहने पर भी उत्तरार्द्ध सूर्य जाने तक की प्रतीक्षा में जीवित रहना और आद्य शंकराचार्य के भयंकर फोड़े से संत्रस्त रहने पर भी आश्चर्यजनक सक्रियता का प्रमाण देना जैसे असंख्यों प्रमाण ऐसे मिलते हैं, जिनमें गांधी जैसे दुर्बल और राजेंद्र बाबू जैसे रुग्ण मनुष्यों ने पूर्ण स्वस्थ मनुष्यों से भी आगे बढ़कर ऐसे काम करके दिखाए, जिन पर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है।

योग-साधना का प्रतिफल आरोग्य के मूल संस्थानों तक पहुँचता और उस जीवट-जिजीविषा को जगाता है, जिसे पाकर हर स्तर का

शरीर ऐसे काम कर सकता है, जो सामान्य लोगों को चमत्कार जैसे प्रतीत हों।

सूक्ष्मशरीर अर्थात चिंतन चेतना की दिव्य ज्योति। इसका मोटा लाभ मस्तिष्क की तीक्ष्णता, स्मरण शक्ति, दूरदृष्टि, गहराई में जा पहुँचने वाला पर्यवेक्षण, सूझ-बूझ आदि के रूप में देखा जाता है। मंदबुद्धि और तीक्ष्ण बुद्धि होने का फैसला इस आधार पर किया जाता है कि उसकी सूझ-बूझ एवं समझदारी किस स्तर की है? शारीरिक बलिष्ठता और सक्रियता के आधार पर मिलने वाले सुखों और लाभों की तरह मानसिक सक्षमता के सुखद प्रतिफल भी कम नहीं हैं। स्कूली पढ़ाई ऊँची श्रेणी में उत्तीर्ण करने वाले लोगों को अफसर के ऊँचे पद मिलते हैं। वकील, डॉक्टर, साहित्यकार, वैज्ञानिक आदि बुद्धिजीवी वर्ग के लोग अक्ल की कमाई ही खाते हैं। व्यापारी, शिल्पी, कलाकार मात्र शारीरिक मेहनत के आधार पर उन्नतिशील नहीं बनते, उनकी चिंतन-प्रक्रिया भी उन कार्यों में तन्मयतापूर्वक संलग्न रहती है। शरीर की सक्रियता और मन की तन्मयता का संयोग जहाँ जितनी मात्रा में हो रहा होगा, वहाँ उसी अनुपात में एक से एक बढ़ी-चढ़ी सफलताएँ भी सामने प्रस्तुत होती चली जा रही होंगी।

बुद्धि-वैभव का मूल्य समझा जाता है और ज्ञान प्राप्ति के लिए स्कूल, कालेजों के माध्यम से बहुत श्रम, समय एवं धन खरच करके उसके लिए अथक प्रयत्न किया जाता है। स्वाध्याय, संपर्क, परिभ्रमण, विचार-विनिमय, अभ्यास आदि के अन्य उपाय भी ऐसे हैं, जिनके सहारे ज्ञानवृद्धि का पथ प्रशस्त होता है। शरीर-कौशल की तरह बुद्धि-वैभव की भी अपनी उपलब्धियाँ हैं। अभिनव शोध कार्यों में, अन्वेषण-पर्यवेक्षणों में, आवरणों के परत भेदकर वस्तुस्थिति समझने में सूक्ष्म बुद्धि ही काम करती है। यह उस अक्लमंदी से ऊपर की चीज है, जो दैनिक कार्य-व्यवसायों में कई तरह की सफलताएँ

प्रस्तुत करती है। यह किस प्रकार पाई या बढ़ाई जा सकती है, इसका कोई बहिरंग आधार अभी तक बन नहीं पाया है। साधारण अक्लमंदी की दृष्टि से एक से एक चतुर और उस्ताद लोग हर जगह भरे पड़े हैं, पर गहराई में गोता मारकर मोती बीन लाने का सौभाग्य किन्हीं विरलों को ही मिला होता है। यह कौशल जिनके भी हाथ लग जाता है, वे सामान्य परिस्थितियों में जन्मने और सामान्य लोगों के बीच पलने पर भी विचित्र तरीकों से आगे बढ़ते हैं और आड़ी-टेढ़ी पगडंडियाँ पार करते हुए कहीं-से-कहीं जा पहुँचते हैं। उनके दूसरे साथी आश्चर्य करते रह जाते हैं कि बहुत समय तक एक-सी स्थिति में रहने पर भी एक इतना आगे निकल गया और दूसरा जहाँ-का-तहाँ रह गया। इस अंतर का एक ही कारण है—प्रस्तुत परिस्थितियों से श्रेष्ठतम लाभ उठा लेने की संतुलित सूझ-बूझ का बाहुल्य। एक को सब कुछ सामान्य ही दीखता है, पर दूसरा उसी स्थिति या सामग्री में से बहुत कुछ असामान्य खोज निकालता है। खोजता ही नहीं, अवसर का उपयोग भी करता है। प्रगति के चरण सदा इसी आधार पर बढ़ते हैं। सामान्य मनुष्य इसी आधार पर असामान्य बनते हैं और सफलता प्राप्त सम्मानित ऐतिहासिक व्यक्तियों की पंक्ति में जा बैठते हैं। कालिदास, बोपदेव, वरदराज जैसे आरंभ में अति मूर्ख समझे जाने वाले लोगों के कालांतर में व्युत्पन्नमति, महामनीषियों की श्रेणी में गिने जाने लगने के उदाहरण यही बताते हैं कि हर किसी में प्रसुप्त पड़ी चिंतन चेतना की दिव्य ज्योति को यदि जाज्वल्यमान किया जा सके, तो कोई भी व्यक्ति वर्तमान की तुलना में अपने भविष्य को निश्चित रूप से उज्ज्वल बना सकता है।

मनुष्य यदि अपने तीनों शरीरों की क्षमताओं का ठीक-ठीक उपयोग कर सके, तो देव दुर्लभ जीवन और सद्गति प्राप्त कर सकता है, किंतु आत्मबल के अभाव में वैसा हो नहीं पाता। उपासना, साधना द्वारा मनुष्य में जब आत्मबल का विकास होता है, तो

स्वेच्छाचारी मन और इंद्रियाँ उसके आज्ञाकारी बन जाते हैं। अंतरंग आस्थाएँ सबल हो जाती हैं कि उनके आगे स्वेच्छाचारिता चल नहीं पाती। मानवीय चेतना इस शरीरसंस्थान की स्वामी है। शरीर, मन, बुद्धि आदि तो उसके सेवक सहयोगी भर हैं। वे समर्थ सशक्त तो हैं, किंतु उनमें अवज्ञा करने की कोई शक्ति नहीं। आस्थाएँ ही प्रेरणा देती हैं और उसी पेट्रोल की शक्ति-गति-प्रेरणा से धकेले जाने पर जीवन स्कूटर के दोनों पहिये, चिंतन और कर्तृत्व सरपट दौड़ने लगते हैं। व्यक्तित्व क्या है—आस्था। मनुष्य क्या है—श्रद्धा। चेष्टाएँ क्या हैं, आकांक्षा की प्रतिध्वनि। गुण-कर्म-स्वभाव अपने आप न बनते हैं और न बिगड़ते हैं। आस्थाएँ ही आदतें बनकर परिपक्व हो जाती हैं, तो उन्हें स्वभाव कहते हैं। अभ्यासों को ही गुण कहते हैं। कर्म आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए शरीर और मन को संयुक्त रूप से जो श्रम करना पड़ता है, उसी को कर्म कहते हैं। इन तथ्यों को समझ लेने के उपरांत यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तित्व के स्तर और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में आने वाले सुख-दु:खों की अनुभूति होती रहती है। प्रसन्नता और उद्विग्नता को यों परिस्थितियों के उतार-चढ़ावों से जोड़ा जाता है, पर वस्तुत: वे मन:स्थिति के सुसंस्कृत और अनगढ़ होने के कारण सामान्य जीवन में नित्य ही आती रहने वाली घटनाओं से ही उत्पन्न अनुभूतियाँ भर होती हैं। कोई घटना न अपने आप में महत्त्वपूर्ण है और न महत्त्वहीन। यहाँ सब कुछ अपने ढर्रे पर लुढ़क रहा है। सरदी-गरमी की तरह भाव और अभाव का, जन्म-मरण और हानि-लाभ का क्रम चलता रहता है। हमारे चिंतन का स्तर ही उनमें कभी प्रसन्नता अनुभव करता और कभी उद्विग्न हो उठता है। अनुभूतियों में परिस्थितियाँ नहीं, मन:स्थिति की भूमिका ही काम करती है।

जीवन के सफेद और काले पक्ष को समझ लेने के उपरांत, सहज ही यह प्रश्न उठता है कि क्या ऐसा संभव नहीं है कि

परिस्थितियों के ढाँचे में ढले, लोक-प्रवाह में बहते हुए, संग्रहीत कुसंस्कारों से प्रेरित, वर्तमान अनगढ़ जीवन को, अपनी इच्छानुसार, अपने स्तर का फिर से गढ़ा जाए और प्रस्तुत निकृष्टता को उत्कृष्टता में बदल दिया जाए? उत्तर 'ना' और 'हाँ' दोनों में दिया जा सकता है। 'ना' उस परिस्थिति में, जब आंतरिक परिवर्तन की उत्कट आकांक्षा का अभाव हो और उसके लिए आवश्यक साहस जुटाने की उमंगें उठती न हों। दूसरों की कृपा-सहायता के बलबूते उज्ज्वल भविष्य के सपने तो देखे जा सकते हैं, पर वे पूरे कदाचित् ही कभी किसी के होते हैं, बाहरी, दैवी और संसारी सहायताएँ मिलती तो हैं, पर उन्हें पाने के लिए पात्रता की अग्निपरीक्षा में गुजरते हुए अपनी प्रामाणिकता का परिचय देना पड़ता है। उतना झंझट सिर पर उठाने का मन न हो, सहज ही कुछ इधर-उधर की 'हथफेरी' करके भौतिक संपदाएँ, आत्मिक विभूतियाँ पाने के लिए जी ललचाता भर हो, तो कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व को महामानवों के स्तर पर गठित करना और उसके फलस्वरूप उच्चस्तरीय सिद्धियाँ प्राप्त कर सकना एक प्रकार से असंभव ही है। उत्तर नकारात्मक समझा जा सकता है।

'हाँ' उस स्थिति में कहा जा सकता है, जबकि साधक में यह विश्वास उभरा हो कि वह अपना स्वामी आप है, अपने भाग्य का निर्माण कर सकना उसके अपने हाथ की बात है। दूसरों पर न सही, अपने शरीर और मन पर तो अपना अधिकार है ही और उस अधिकार का उपयोग करने में किसी प्रकार का कोई व्यवधान या हस्तक्षेप कहीं से भी नहीं हो सकता। मन की दुर्बलता ही है, जो ललचाती, भ्रमाती और गिराती है। तनकर खड़ा हो जाने पर भीतरी और बाहरी सभी दबाव समाप्त हो जाते हैं और अभीष्ट दिशा में निर्भयता एवं निश्चिंतता के साथ बढ़ा जा सकता है। समुद्र की गहराई में उतरकर मोती खोजने में विशिष्ट प्रकार के साधन एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता

होती है। जीवन समुद्र की गहराई में उतर कर एक-से-एक बहुमूल्य रत्न खोज लाना सरल है। इसमें किसी बाहरी साधन या उपकरण की जरूरत नहीं, मात्र प्रचंड संकल्प शक्ति चाहिए। प्रचंड का तात्पर्य है—धैर्य और साहस का उतनी मात्रा में समन्वय, जिससे संकल्प के डगमगाते रहने की बालबुद्धि उभर आने की आशंका न हो। स्थिर बुद्धि से सतत प्रयत्न करते रहने और फल प्राप्ति में देर होते देखकर अधीर न होने की, वरन दूने उत्साह से प्रयत्न करने की सजीवता जहाँ भी होगी, वहाँ सफलता पैर चूमने के लिए सामने हाथ जोड़े, सिर झुकाए खड़ी होगी। ऐसे मनस्वी व्यक्ति अपने को, अपने वातावरण को यहाँ तक कि अपने प्रभाव-क्षेत्र को कायाकल्प की तरह बदल सकने में सफल हो सकते हैं। जीवन परिष्कार की भविष्यवाणी करते हुए ऐसे लोगों की सफल संभावना को 'हाँ' कहकर आश्वस्त किया जा सकता है। उपासनात्मक विधि-विधानों का सृजन तत्त्वदर्शी ऋषियों ने इसी उच्चस्तरीय सफलता की प्राप्ति के लिए तैयार किया है।

उपासना का अर्थ है—समीपता। ईश्वर और जीव में यों समीपता ही है। जब भगवान कण-कण में संव्याप्त है, तब मानवी काया एवं चेतना में भी वे समाए हुए क्यों नहीं होंगे! जो अपने में ओत-प्रोत ही है, वह दूर कैसे? और जो दूर नहीं है, उसकी समीपता का क्या अर्थ? इस असमंजस की विवेचना इस प्रकार होती है कि यह समीपता उथली है, गहरी नहीं। माना कि शरीर में हलचलों के रूप में और मन में चिंतन के रूप में विश्वव्यापी चेतना ही काम कर रही है, तो भी स्पष्ट है कि जीव की आस्थाएँ एवं आकांक्षाएँ दिव्य सत्ता के अनुरूप नहीं हैं। उनमें निकृष्टता का आसुरी अंश भी भरा पड़ा है। मनुष्यता की सार्थकता तभी है, जब उसका स्वरूप एवं स्तर भी उसी के अनुरूप ऊँचा उठ सके। निम्न योनियों के जीवधारी पेट और प्रजनन के लिए जीते हैं।

स्वार्थ-सिद्धि ही उनकी नीति होती है। शरीरगत लाभ ही उनके प्रेरणा-स्रोत होते हैं। दूसरों के साथ वे आत्मभाव बहुत थोड़ी मात्रा में मिला पाते हैं और परमार्थपरायणता के अंश नगण्य जितने ही देखे जाते हैं। यदि यही अंत:स्थिति मनुष्य की भी बनी रहे, तो समझना चाहिए कि कायिक विकास ही हुआ, चेतनात्मक नहीं। नर-कीट, नर-पशु उन्हें कहते हैं, जो शरीर संरचना भर से मनुष्य हैं, उनके दृष्टिकोण में पिछड़ी योनियों जैसी निकृष्ट स्वार्थपरता ही भरी पड़ी है। आयु की दृष्टि से प्रौढ़ हो जाने पर भी यदि सारा आचार-व्यवहार बच्चे जैसा ही बना रहे, तो उस अविकसित स्थिति पर चिंता व्यक्त की जाएगी। ठीक यही स्थिति उन मनुष्यों की है, जो शरीर से तो सुरदुर्लभ काया में प्रवेश पा गए, पर उनने अपने दृष्टिकोण में, क्रिया-कलाप में वही पिछड़ा हुआ क्रिया-कलाप सँजोए रखा।

इस दयनीय स्थिति से पीछा छुड़ाने के लिए ईश्वर की समीपता का, उपासना का उपक्रम बनाना पड़ता है। शरीर ठंढ से काँप रहा हो, तो आग की समीपता से आवश्यक गरमी प्राप्त की जाती है। आदर्शवादिता से रहित मानव जीवन घिनौना ही कहा जाएगा। जो पशु के लिए क्षम्य है, वही मनुष्य के लिए अक्षम्य। पशु निर्वसन रहते, खुले में मल-मूत्र त्यागते और रतिकर्म करते हैं। मनुष्य वैसा करेगा, तो भर्त्सना का पात्र बनेगा। शिश्नोदर परायणता निकृष्ट कृमि-कीटकों के लिए स्वाभाविक हो सकती है, मनुष्य के लिए तो वह स्थिति निंदनीय ही मानी जाएगी।

संगति का, समीपता का प्रभाव सर्वविदित है। चंदन के समीप उगे हुए झाड़-झंखाड़ भी सुगंधित हो जाते हैं। कोयले की और गंधी की दुकान पर बैठने वाले कालोंछ का धब्बा और सुगंध का छींटा साथ लेकर जाते हैं। दुष्टों की समीपता से दुर्गति और सज्जनों के सान्निध्य से सद्गुणों की वृद्धि और प्रगति की संभावना का साकार

होना सर्वविदित है। ईश्वर उत्कृष्टताओं का भांडागार है। उसकी समीपता उपासना में वैसी ही विशेषताओं का बढ़ना स्वाभाविक है। कीट-भृंग का उदाहरण प्रसिद्ध है। टिड्डे हरी घास में रहते हैं, तो उनका शरीर हरा रहता है, पर जब वे सूखी घास में रहने लगते हैं, तो पीले पड़ जाते हैं। तितलियाँ फूलों के अनुरूप अपने रंग बदलती रहती हैं। समीपता के अनुरूप ढलने के अगणित उदाहरण सर्वत्र पाए जाते हैं। वातावरण की प्रभाव शक्ति को कौन नहीं जानता। व्यक्तियों का भला-बुरा निर्माण करने में वातावरण की असाधारण भूमिका रहती है।

उपासना का क्रियाकृत्य—अंतरंग और बहिरंग स्तर का ऐसा माहौल बनना चाहिए, जिससे व्यक्ति के भावनात्मक स्तर में उत्कृष्टता की अभिवृद्धि होती हो। बहिरंग वातावरण बनाने में पूजा-उपासना में प्रयुक्त होने वाली प्रतीक-प्रतिमा उसकी सज्जा-शृंगार, पूजा-उपासना में प्रयुक्त होने वाले पदार्थ, उपकरण आदि का मिला-जुला स्वरूप अपना काम करता है। पूजा वेदी के समीप बैठने पर ऐसा लगना चाहिए, मानो किन्हीं असाधारण दिव्य परिस्थितियों में जा पहुँचे। मंदिर, देवालय, पूजागृह, देवपीठ, आराधना कक्ष को बनाने में उपयुक्त वातावरण बनाने का तथ्य ही प्रधान रूप से काम करता है। वहाँ के सुसज्जा-साधन सँजोने में इसी बात का ध्यान रखा जाता है कि उस स्थान में जाते ही मन अपने आप को पवित्रता की दिव्य परिस्थितियों से घिरा हुआ अनुभव करने लगे। सामान्य वातावरण से उपासना कक्ष का वातावरण भिन्न रखा जाता है और वहाँ की परिस्थितियाँ ऐसी बनाई जाती हैं, जिनमें बैठने पर उत्कृष्टता की अनुभूति बढ़ने से सुविधा मिल सके।

देवालयों, तीर्थों एवं निजी पूजागृहों में स्थापित देव प्रतिमा के आधार पर की गई पूजा-आराधना सर्वसुलभ एवं सामान्य मनोभूमि

के लिए सर्वथा उपयुक्त है। यदि उसके पीछे जुड़ गई भ्रांतियों और अवांछनीयताओं को हटा दिया जाए, तो इस माध्यम को व्यक्ति एवं समाज के भावनात्मक एवं नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने में बहुत सहायक सिद्ध पाया जाएगा। मूर्ति, चित्र, पुष्प आदि की साज-सज्जा, शांत वातावरण आदि उपासना के उपयुक्त मनोभूमि बनाने में सहायता करते हैं। मूर्ति आदि को ही सब कुछ मान लेना बुरा है, उनका समुचित उपयोग बुरा नहीं है। मूर्ति एक संकेत है, प्रतीक है। पुस्तक भी एक मूर्ति है। उसमें छपी हुई आड़ी टेढ़ी लकीरों के रूप में अक्षर होते हैं। देखने में यह पुस्तक प्रतिमा सर्वथा जड़ है, उसमें चेतन नहीं खोजा जा सकता, पर उस पुस्तक के सहारे हमारे मनःक्षेत्र में मनीषियों द्वारा प्रतिपादित अत्यंत महत्त्वपूर्ण विचार उत्पन्न होते और पनपते हैं। इस मानी में वह चेतन भी है। गीता की पुस्तक जड़ है, उसे झींगुर-कीड़े, चूहे आसानी से काट सकते हैं, पर इतने भर से उस ज्ञान-प्रतिमा का मूल्य किसी भी प्रकार घट नहीं जाता। भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच हुआ दिव्य संवाद उसके पृष्ठों पर पढ़ा जा सकता है और वैसा ही लाभ लिया जा सकता है जैसा कि उस अवसर पर स्वयं उपस्थित रह सकने पर हो सकता था। पत्र व्यवहार में कितना महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान होता है, यह किसी से छिपा नहीं है। महत्त्वपूर्ण इकरारनामे और दस्तावेज जड़ कागज ही होता है, पर उनके आधार पर कितने बड़े फैसले होते हैं, इसे कौन नहीं जानता। चूँकि कागज पानी में गल सकता है, इसलिए इस पर लिखे आलेखों का कोई महत्त्व नहीं, ऐसा सोचना उपहासास्पद है। हम अपने पूर्वजों, गुरुजनों अथवा मान्य प्रतीकों के प्रति असीम सम्मान रखते हैं और उनकी अवज्ञा पर दुःख मानते एवं रोष प्रकट करते हैं। भगवान जड़ तो नहीं है, पर वह जड़ पदार्थों में समाया हुआ न हो ऐसी भी कोई बात नहीं है। जब जड़-

चेतन सभी में उसकी सत्ता विद्यमान है, तो प्रतिमा में उसकी उपस्थिति न होने की बात भी क्यों सोची जाए?

चित्र अथवा मूर्ति के आधार पर की जाने वाली उपासना के समय मन में यह निष्ठा जगनी चाहिए कि जिस दिव्य सत्ता के साथ घनिष्ठता जोड़नी है, वह उपासना स्थल पर असामान्य स्थिति में विद्यमान है। इसके लिए प्रतीक प्रतिमा की स्थापना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। आद्यशक्ति गायत्री माता की अथवा अपने विश्वास के आधार पर कोई अन्य प्रतिमा एक छोटे किंतु सुसज्जित सिंहासन पर स्थापित रहनी चाहिए। जब भी पूजा करनी हो, तब उसी के सामने बैठकर करनी चाहिए। जिस स्थान पर जो कार्य बहुत समय तक किया जाता रहता है, वहाँ अनायास ही ऐसी विशेषता उत्पन्न हो जाती है, जिससे प्रेरित होकर उन कार्यों की पुनरावृत्ति के लिए मन चलने लगता है। चाहे जहाँ, चाहे जब बैठकर, भजन करने पर मन लगा लेना कठिन है, पर नियत स्थान पर, नियत समय पर, पूजा स्थल पर बैठते ही मन स्वभावतः उन अभ्यस्त क्रियाओं को स्वेच्छापूर्वक दोहराने लग जाएगा। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए नियत स्थान पर पूजा कक्ष का स्थापित करना और नियत समय पर नियत-विधि से उपासना-कृत्य को क्रियान्वित करना ही उपयुक्त रहता है।

उपासनात्मक वातावरण के बाद उपासनात्मक कर्मकांडों का क्रम आता है। यह कर्मकांड वास्तव में साधक की मनोभूमि के लिए समुद्रमंथन जैसा महत्त्व रखते हैं। देव-दानवों ने समुद्र मथकर कुछ ही समय में चौदह बहुमूल्य रत्न पाए थे। यह मंथन यदि अधिक समय तक, अधिक गहराई तक जारी रखा जा सके, तो उस आधार पर मिलती रहने वाली उपलब्धियों का कोई अंत नहीं मिल सकता।

यह मंथन-प्रक्रिया ही उपासना के अंतर्गत किए जाने वाले सरल संक्षिप्त कर्मकांडों द्वारा आरंभ होती है और इस आधार पर

स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से कारण और कारण से अनंत में प्रवेश करती चली जाती है। आरंभ के छात्रों को जो कृत्य बताए जाते हैं, वे उपहासास्पद लगते हैं और यह समझ में नहीं आता कि इतनी स्वल्प-सी शारीरिक, मानसिक हलचलों में इतनी बड़ी उपलब्धियाँ किस प्रकार करतलगत हो सकती हैं। यहाँ इतना ही समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है कि उपासनात्मक कर्मकांड दिशा निर्देश है। दिशा सही होने और पहिया लुढ़कने लगने पर उसके परिणाम दूरगामी होना आश्चर्यजनक नहीं है।

रेलगाड़ी के चलने, खड़े होने में झंडी और सिगनल की बड़ी भूमिका होती है। उनके हरे होने से गाड़ी चलती है और लाल होने से रुक जाती है। निस्संदेह झंडी या बत्ती के रंगों में इतनी शक्ति नहीं है कि वे रेल को रोक या धकेल सकें, फिर भी उनके द्वारा मिलने वाले दिशा निर्देश का अपना महत्त्व है। इस प्रक्रिया में गड़बड़ी हो जाए, तो गाड़ियाँ या तो खड़ी रहेंगी अथवा आपस में टकराकर नष्ट होंगी।

जंकशन पर बराबर-बराबर कितनी ही गाड़ियाँ खड़ी रहती हैं। इनमें से किसको किधर जाना है, इसका निर्धारण एक छोटा-सा 'लीवर' करता है। पटरियों में किसे, किस दिशा के साथ मिला दिया जाए, यह निर्णय और कार्य तनिक-सा है और उसे छोटा-सा खलासी बड़ी आसानी से पूरा कर देता है। देखने-सुनने में बात जरा-सी हुई, पर उसकी प्रतिक्रिया दूरगामी होती है। कुछ ही घंटे बाद तलाश करने पर पता चलता है कि एक गाड़ी उत्तर को घूमी और दूसरी दक्षिण को। इस थोड़ी-सी अवधि में दोनों के बीच हजारों मील का फासला बन गया। जीवन के चौराहे पर से जिस भी दिशा में मोड़ दिया जाए, वह अपने क्रम से चल पड़ता है और भिन्न दिशा में चलने वालों की तुलना में असाधारण रूप से भिन्न दिखाई पड़ता है। अनर्थ मूलक प्रवृत्ति में निरत और निरर्थक भटकाव में संलग्न लोगों

की तुलना में परमार्थपरायण की प्रगति कितनी अधिक उत्साहवर्द्धक होती है, इसे ऐतिहासिक महामानवों को मिली विभूतियों का पर्यवेक्षण करके आसानी से जाना जा सकता है। उपासनात्मक कर्मकांडों में से प्रत्येक जीवन धारा की दिशा मोड़ने में सहायक होता है। रेल की पटरियाँ सरल और सस्ती होती हैं, पर उनके बिना बहुमूल्य और जटिल इंजन अनेक डिब्बों सहित दौड़ते चले जाने में समर्थ नहीं हो सकता। उपासनात्मक कर्मकांडों को रेल की पटरी से उपमा दी जा सकती है।

कर्मकांड वे कृत्य हैं, जो शरीर के विभिन्न अवयवों की सहायता से उपचार-उपकरणों के द्वारा संपन्न किए जाते हैं। षोडशोपचार देव पूजन, आत्मशोधन के विभिन्न क्रियाकृत्य इसी श्रेणी में आते हैं। मन पर छाप डालने में विचार और कर्म का समन्वय करना पड़ता है। चित्त पर स्थिर संस्कार डालने के लिए अभीष्ट विचारों के साथ-साथ उनके पूरक कृत्य होने ही चाहिए, अन्यथा कल्पना केवल जल्पना बनकर हवा में उड़ जाती है। विचारणा के साथ क्रिया का समन्वय न कर सकने पर भी जो लोग सफलताएँ चाहते हैं, उन्हें शेखचिल्ली कहकर उपहासास्पद किया जाता है। हर क्षेत्र में विचार और कर्म का समन्वय ही प्रतिफल उत्पन्न करता है। उपासना में ईश्वरीय सान्निध्य की कल्पना ही नहीं, अनुभूति भी अपेक्षित होती है। भावनिष्ठा को कार्यान्वित होते देखकर ही ऐसी मनःस्थिति बनती है। इसलिए यह सोचना होता है कि परमेश्वर प्रत्यक्ष ही सचमुच ही सामने विराजमान है और उनकी किसी जीवित व्यक्ति के उपस्थित होने पर की जाने जैसी अभ्यर्थना की जा रही है। आत्मशोधन और देवपूजन के दोनों कृत्यों में इसी प्रकार का भाव समन्वय होता है। वह यदि बेगार भुगतने के उथले मन से किया गया है और जैसे-तैसे परंपरागत लकीर पीटी गई हो, तो बात दूसरी है; अन्यथा जिस प्रयोजन के लिए यह प्रचलन हुआ है, उसे ध्यान में

रखकर चला जाए, तो अंतःक्षेत्र में अभीष्ट निष्ठा होगी और लगेगा कि निराकार परमेश्वर अपेक्षाकृत अधिक सघन, अधिक साकार बनकर सामने आया है।

उपासनात्मक कर्मकांड के अंग देवपूजन, जप, ध्यान आदि हैं, जिनके माध्यम से साधक अपनी चेतना को उस परम चेतना के सान्निध्य के लिए, उसके साथ जोड़ने के लिए प्रयास करता है, किंतु इसके पूर्व कुछ क्रियाएँ अपने आप को उपासना की उपयुक्त स्थिति में पहुँचाने के लिए की जाती हैं। इन्हें आत्मशुद्धि के षटकर्मों के रूप में जाना जाता है। इनका उद्देश्य अपने में सर्वतोमुखी पवित्रता की भाव मान्यता को सघन बनाना है। हमारे कार्य, विचार और विश्वास तीनों ही आत्मिक प्रगति के मूलभूत आधार हैं। कपड़ा पहले धोया जाता है, फिर रँगा जाता है। धुलाई अर्थात आत्मशुद्धि, रँगाई अर्थात व्यक्तित्व में ब्रह्मचेतना का अवतरण। मैले कपड़े पर रंग नहीं चढ़ता और दुष्ट एवं भ्रष्ट जीवन क्रम अपनाए रहने वाला ईश्वर की उस विशेष अनुकंपा का अधिकारी नहीं बन सकता है, जिसे ब्रह्मवर्चस् की उपलब्धि कहते हैं और जिसके साथ देवोपम विशेषताओं के ऋद्धि-सिद्धि भरे भंडार जुड़े हुए हैं।

"देवता बनकर देव पूजन करना चाहिए" इस शास्त्र निर्देश का प्रयोजन यह है कि उपासना काल में अपने आप को पवित्रता से ओत-प्रोत अनुभव करना चाहिए। सम्मिलन सजातियों का ही होता है। पानी में घुलनशील पदार्थ ही घुल सकते हैं। लोहे जैसी भारी धातुओं का पानी में घुलना संभव नहीं। ईश्वर का सजातीय अपना व्यक्तित्व होगा, तो उसमें दिव्य अवतरण की अपेक्षा की जा सकती है। अपने में देवत्व की स्थापना करके तब उपासना-कृत्य आरंभ करने की बात इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए कही गई है।

आत्मशुद्धि के लिए पवित्रीकरण, आचमन, शिखाबंधन, प्राणायाम, न्यास—ये पाँच कृत्य करने पड़ते हैं। इसके बाद सर्वप्रथम

मातृभूमि का, पृथ्वी पूजन है। अदृश्य भगवान के प्रतीक आह्वान से भी पहले भगवान की साकार प्रतिमा अपनी धरती का पूजन किया जाता है। विराट् ब्रह्म का प्रत्यक्ष शरीर यह संसार है, इसकी जड़ संपदा को सुविकसित और प्राणिसत्ता को सुसंस्कृत बनाने के लिए जो प्रयत्न किए जाते हैं, वे सभी पृथ्वी पूजन में, मातृभूमि अर्चन में आ जाते हैं।

इन उपचारों में शारीरिक क्रियाएँ तो होती ही हैं किंतु उनके साथ मानसिक एवं भावनात्मक सक्रियता भी अनिवार्य रूप से जुड़ी रहनी चाहिए। शारीरिक क्रिया इन उपचारों का कलेवर मात्र है। उपेक्षा उसकी भी नहीं करनी चाहिए, किंतु उसके प्राण को अपनी विचारणा और भावना को उसके साथ-साथ प्रखर बनाना आवश्यक है।

पवित्रीकरण के साथ यह भावना उठनी चाहिए कि ईश्वर की सर्वव्यापी पवित्रता में हम ओत-प्रोत हो रहे हैं और वैसी ही पवित्रता हमारे अंदर जाग्रत् और स्थापित हो रही है। तीन आचमनों के साथ क्रमशः वाणी की शुद्धि, चिंतन की शुद्धि तथा भाव-शुद्धि तथा इन तीनों को ईश्वरीय कार्यों में प्रयुक्त करने के लिए सशक्त और तेजस्वी बनाने का ध्यान रखा जाए। शिखा बंधन के समय अपने संस्कृति-गौरव का स्मरण करते हुए अपनी आदर्श निष्ठा तथा आस्थाओं को सबल बनाने, अपने सूक्ष्म केंद्र मस्तिष्क को ईश्वरीय दिव्य चेतना से जोड़े रहने का भाव उभारना चाहिए। प्राणायाम के समय वायु के साथ विश्वव्यापी महाप्राण को अंदर खींचने, उसे अपने सभी शरीरों में स्थापित करने तथा अंदर के विकारों को बाहर फेंक देने का संकल्प बनाए रखा जाता है। न्यास अपने प्रमुख अंगों को ईश्वरीय कार्यों के लिए उपयुक्त बनाने के उद्देश्य से किया जाता है। पृथ्वी पूजन के साथ अपनी सीमित स्वार्थपरता को छोड़कर विशाल उत्तरदायित्वों के

बोध, मातृभूमि, विश्व-वसुधा के प्रति अपने कर्त्तव्यों का स्मरण किया जाना और अपनी कृतज्ञता की भावना को विकसित करना आवश्यक है।

षटकर्मों द्वारा अपने आप को देवशक्तियों के अनुरूप बनाकर, फिर प्रतीक पूजा का क्रम चलाया जाता है। उसके लिए अपनी रुचि के अनुरूप इष्टदेव की प्रतिमा, चित्र अथवा दीपक, सुपाड़ी, नारियल जैसे प्रतीक रखकर उनका पूजन किया जाता है। पूजन में चढ़ाए जाने वाले पदार्थों की तरह अपनी क्षमताओं, साधन-संपदाओं को प्रभु चरणों में अर्पित करने का भाव उसके साथ जुड़ा रहना चाहिए। सही ढंग से किए जाने पर प्रतीक पूजन की प्रक्रिया में स्थूल और सूक्ष्म समर्पण का संयोग उपासक की अंत:चेतना को ऊँचा उठाने में असाधारण रूप से उपयोगी सिद्ध होता है।

सार्वजनिक मंदिरों में अथवा व्यक्तिगत पूजा कक्षों में, भगवान के विविध प्रतीकों की स्थापना करके उनका महामानव, गुरुजनों जैसा स्वागत-सत्कार किया जाता है। पंचोपचार, षोडशोपचार के विधान उसी के लिए बनाए गए हैं। जितनी देर प्रतिमा सामने रहती है, उतने समय ईश्वर के सान्निध्य का अनुभव होता है, उसका बड़प्पन स्वीकारा जाता है और श्रद्धाभिव्यक्ति से उन्हें सम्मानित करने वाले शिष्टाचारों का प्रदर्शन किया जाता है। पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, पुष्प, चंदन, धूप, दीप, अक्षत, नैवेद्य, आरती, नमस्कार आदि के विधि-कृत्य समीपता और श्रद्धा की अनुभूति को विकसित करने में सहायता करते हैं। निष्ठा की परिपक्वता के लिए कल्पित देव प्रतिमाओं को यथार्थ मानने की मन:स्थिति उत्पन्न की जाती है।

इससे आगे की सूक्ष्म प्रतीक पूजा वह है, जिसमें आँखें बंद करके अथवा अधखुली रखकर इष्टदेव की प्रतिमा का ध्यान किया जाता है और श्रद्धा, समीपता एवं एकता की वैसी ही भावना की

जाती है, जैसी कि मूर्तिपूजा में स्थूल प्रतिमा की। अंतर इतना ही रहता है कि मूर्तिपूजा में प्रतीक उपकरणों की प्रत्यक्ष आवश्यकता पड़ती है, जबकि ध्यान में वह सारे कार्य मात्र कल्पना के सहारे ही पूरे हो जाते हैं। ध्यान में इष्टदेव को हँसता, मुस्कराता और श्रद्धा-समर्पण के अनुरूप प्रत्युत्तर देता हुआ सोचा जा सकता है। यह स्थिति अधिक उत्साहवर्द्धक होती है और एकाग्रता का लाभ भी अधिक देती है। इसलिए इस मानस पूजा को भावनाशील, कल्पनाशील साधकों के लिए प्रयुक्त होने वाली उपासना का अगला ऊँचा चरण माना गया है।

आत्मा को परमात्मा से मिलाने वाली योग-साधना के पथ पर अग्रसर होने की दिशा में प्रथम कक्षा साकार उपासना की है। उसमें आकृति सहित परमात्मा की कल्पना करनी पड़ती है। उसे उच्चस्तरीय श्रेष्ठताओं से संपन्न माना जाता है, समीप उपस्थित अनुभव किया जाता है, सघन श्रद्धा का आरोपण करते हैं, गहरी प्रेमभावना उमगाते हैं और उनके साथ घनिष्ठता बनाते हैं। इसी कृत्य के अंतर्गत आने वाले विविध उपचार भक्ति-साधना कहे जाते हैं। 'लय' प्रक्रिया का यह प्रथम सोपान है। अचिंत्य चिंतन में असमर्थ स्थूल भूमिका की मन:स्थिति के लिए यही कृत्य सरल पड़ता है और चेतना का स्तर आगे बढ़ाने में सहायता करता है। प्रतीक उपासना का सारा ढाँचा इसी प्रयोजन के लिए विनिर्मित हुआ समझा जाना चाहिए।

इसके बाद उपासना की अधिक गहन प्रक्रियाएँ जप, ध्यान आदि का प्रयोग किया जाता है। अपनी चेतना को क्रमशः ईश्वर सान्निध्य की अधिक गहन अनुभूति की ओर ले जाने के लिए ये सीढ़ियाँ बनाई गई हैं। इस स्तर की उपासना का प्रयोजन है मन:क्षेत्र पर ईश्वरीय सान्निध्य का चिंतन घटाटोप की तरह छाए रहना। सामान्य जीवन में आत्मसत्ता शरीर रूप में ही काम करती है। अस्तु, अपना आपा शरीर मात्र ही अनुभव होने लगता है। शरीर से संबंधित

समस्याओं का विस्तार अत्यधिक है। उनके खट्टे-मीठे स्वाद भी चित्र-विचित्र हैं और वे सभी बड़े आकर्षक हैं। यों प्रिय-अप्रिय स्तर की परस्पर विरोधी अनुभूतियाँ सामने आती हैं, पर वे दोनों ही अपने-अपने ढंग के गहरे प्रभाव चेतना पर छोड़ती हैं। सफलताएँ अपने ढंग का प्रभाव डालती है, असफलताएँ दूसरे ढंग का। लाभ में एक प्रकार का अनुभव होता है, हानि में दूसरे तरह का। एक स्थिति प्रिय लगती है, दूसरी अप्रिय। इतना होते हुए भी दोनों की स्थितियों की गहरी छाप पड़ती है। सफलता का हर्षोन्माद और असफलता का शोक-संताप दोनों ही अपना प्रभाव छोड़ते और चेतना को आवेशग्रस्त बनाते हैं। ज्वार-भाटे जैसे यह आवेश, अवसाद सामयिक अनुभूति बनकर ही समाप्त नहीं हो जाते, वरन पीछे भी बहुत समय तक उनकी उत्तेजित प्रतिक्रिया बनी रहती है। ऐसे क्षण बहुत ही कम आते हैं, जिनमें चित्त शांत संतुलित रहता हो और आत्मसत्ता के साथ जुड़ी हुई समस्याओं को हल करने की बात सूझ पड़ती हो। यही कारण है कि हम भौतिक आवश्यकता और समस्याओं को ही सब कुछ मान लेते हैं और उन्हीं के जाल-जंजाल में उलझे-जकड़े पड़े रहते हैं। आत्मिक जीवन का स्वरूप भी सामने नहीं आ पाता, फिर उनका समाधान सूझे तो कैसे? स्पष्ट है कि आत्मिक समस्याओं का समाधान हुए बिना न तो भौतिक जीवन का रस लिया जा सकता है और न जीवन-लक्ष्य को पूरा करने की बात बनती है।

आवश्यक है कि कुछ समय हमारे पास ऐसा हो, जिसमें भौतिक जीवन को एक प्रकार से पूरी तरह भुला दिया जाए और उन क्षणों में केवल आत्मा का स्वरूप, जीवन-लक्ष्य एवं परमात्म सान्निध्य के अतिरिक्त और कुछ सूझ ही न पड़े, यही उपासना काल की मर्यादा है। यह सही हुई या गलत, इसकी पहचान इतनी है कि उन क्षणों में मन:क्षेत्र पर आत्मिक स्तर का चिंतन छाया रहा या भौतिक स्तर का। यदि सांसारिक मनोकामनाओं की उथल-

पुथल मची हुई है और इष्टदेव से तरह-तरह के भौतिक वरदान पाने की ललक उठ रही हो, तो समझना चाहिए कि यह उपासना-कृत्य भी विशुद्ध रूप से भौतिक है। इससे आत्मिक प्रगति जैसा कोई लाभ नहीं मिल सकेगा। यदि उतने समय शरीर रहित, भौतिक प्रभावों से मुक्त, ज्योतिर्मय आत्मा ही ध्यान में है और उसमें महाज्योति के साथ समन्वित हो जाने की दीप-पतंग जैसी आकांक्षा उठ रही है, तो समझना चाहिए कि उपासना का सच्चा स्वरूप अपना लिया गया और उससे अभीष्ट उद्देश्य पूरा हो सकने की संभावना बन रही है।

परब्रह्म एक सर्वव्यापी चेतना शक्ति है। उसके साथ जितनी अधिक घनिष्ठता जुड़ती चली जाती है, उसी अनुपात से जीवात्मा की उत्कृष्टता एवं क्षमता बढ़ती जाती है। चेतना को चेतना के साथ घनिष्ठता के बंधनों में बाँधने के लिए एक ही आधार है—सद्भाव भरी स्थिर आतुरता। इसी स्थिति को दूसरे शब्दों में प्रेम या भक्ति कहा गया है। लौकिक जीवन में भी इसी प्रकार की आतुरता जिस पदार्थ, व्यक्ति या स्थिति के प्रति होती है, उसके लिए समूचा व्यक्तित्व प्रयत्नरत हो जाता है और देर-सबेर में इष्ट प्रायः पूरा होकर ही रहता है। चेतना को चेतना से मिलाने के लिए भी यही भावभरी किंतु स्थिर आतुरता अभीष्ट है। भक्तिभावना उत्पन्न करने के लिए ईश्वर का स्वरूप बनाने, उस पर श्रद्धा, आत्मीयता, समीपता एवं एकता आरोपित करने के प्रयास किए जाते हैं और वे अभीष्ट प्रयोजन पूरा भी करते हैं।

उपासना के समय ही नहीं, बाद में भी यह भावनात्मक प्रखरता बनी रहे, यह आवश्यक है। उपासना काल में दिव्यसत्ता की समीपता का जो बोध हुआ, अपने आपे को उससे जोड़ देने, उस पर समर्पित कर देने की जो ललक उठी, उसकी अनुभूति सामान्य जीवनक्रम में भी बनी रहनी चाहिए। साधक अपनी इसी भावना के विकास और

पुष्टि का संकल्प करते हुए उपासना के अंत में सूर्यार्घ्यदान करता है। जैसे कलश की सीमा में बँधा जल सूर्य के सामने अर्पित करते ही गरमी और वायु के संसर्ग से असीम में मिल जाता है, उसी तरह अपने शरीर में सीमित हमारी चेतना भी प्रभु चरणों पर अर्पित होकर अनंत में मिल जाए, हम अणु से विभु बनें, यही भाव सूर्यार्घ्यदान के समय रहना चाहिए।

इस प्रकार उपासना के साथ उपयुक्त वातावरण, उपयुक्त कर्मकांड तथा उपयुक्त भावोद्रेक का क्रम अपनाकर उसे अति प्रभावशाली बनाया जा सकता है। उसके साथ क्रिया और भाव समन्वय द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरों को उपासनामय बनाया जा सकता है। यह सभी क्रम एक साथ चल सकते हैं। आवश्यक नहीं कि एक को पूरा करके ही दूसरे को छुआ जाए। खेलों में शारीरिक स्फूर्ति और मानसिक सूझ-बूझ का एक साथ उपयोग होता है। शरीर में पाचन, श्वास-प्रश्वास तथा रक्त-संचार आदि क्रम एक साथ चलते रहते हैं। इसी प्रकार उपासना में भी सभी धाराएँ एक साथ प्रवाहित होती हैं तथा साधक उसका अद्‌भुत लाभ प्राप्त करता चला जाता है।

□

साधना और उसकी सिद्धि

मानवी व्यक्तित्व एक प्रकार का उद्यान है। उसके साथ अनेकों आत्मिक और भौतिक विशेषताएँ जुड़ी हुई हैं। उनमें से यदि कुछ को क्रमबद्ध, व्यवस्थित और विकसित बनाया जा सके, तो उनके स्वादिष्ट फल खाते-खाते गहरी तृप्ति का आनंद मिलता है, पर यदि चित्तगत वृत्तियों और शरीरगत प्रवृत्तियों को ऐसे ही अनियंत्रित छोड़ दिया जाए, तो वे भोंड़े, गँवारू एवं उद्धत स्तर पर बढ़ती हैं और दिशा-विहीन उच्छृंखलता के कारण जंगली झाड़ियों की तरह उस समूचे क्षेत्र को अगम्य एवं कंटकाकीर्ण बना देती है।

जीवन कल्पवृक्ष की तरह असंख्य सत्परिणामों से भरा-पूरा है, पर उसका लाभ मिलता तभी है, जब उसे ठीक प्रकार साधा, सँभाला जाए। इस क्षेत्र की सुव्यवस्था के लिए की गई चेष्टा को साधना कहते हैं। कितने ही देवी-देवताओं की साधना की जाती है और उससे कतिपय वरदान पाने की बात पर विश्वास किया जाता है। इस मान्यता के पीछे सत्य और तथ्य इतना ही है कि इस मार्ग पर चलते हुए अंतःक्षेत्र की श्रद्धा को विकसित किया जाता है। आदतों को नियंत्रित किया जाता है। चिंतन-प्रवाह को दिशा विशेष में नियोजित रखा जाता है और सात्त्विक जीवन के नियमोपनियमों का तत्परतापूर्वक पालन किया जाता है। इन सबका मिला-जुला परिणाम व्यक्तित्व पर चढ़ी हुई दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण करने तथा सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव का अंग बनाने में सहायक सिद्ध होता है। सुसंस्कारों का अभिवर्द्धन प्रत्यक्षतः देवी वरदान है। उसके मूल्य पर हर व्यक्ति

अभीष्ट प्रयोजन की दिशा में अग्रसर हो सकता है और उत्साहवर्द्धक सत्परिणाम प्राप्त कर सकता है।

साधना आत्मिक क्षेत्र में भी होती है और भौतिक क्षेत्र में भी। कदम जिस भी दिशा में बढ़ते हैं, प्रगति उसी ओर होती है। अपनी सतर्कतापूर्ण सुव्यवस्था जिस भी मार्ग पर गतिशील कर दी जाए, उसी में एक के बाद एक सफलता के मील पत्थर मिलते चले जाएँगे।

साधना का महत्त्व किसान जानता है। पूरे वर्ष अपने खेत की मिट्टी के साथ अनवरत गति से लिपटा रहता है और फसल को स्वेद कणों से नित्य ही सींचता रहता है। सरदी-गरमी की परवाह नहीं। जुकाम-खाँसी की चिंता नहीं। शरीर की तरह ही खेत उसका कर्मक्षेत्र होता है। एक-एक पौधे पर नजर रहती है। खाद, पानी, निराई, गुड़ाई से लेकर रखवाली तक के अनेकों कार्य करने से पूर्व वह उनकी आवश्यकता समझता है और किसी के निर्देश से नहीं, अपनी गति से ही निर्णय करता है कि कब, क्या और कैसे किया जाना चाहिए। किसी के दबाब से नहीं, अपनी इच्छा और प्रेरणा से ही उसे खेत की, उसे सँभालने वाले बैलों की, हल, कुदाल आदि संबद्ध उपकरणों की व्यवस्था जुटाए रहने की सूझ-बूझ सहज ही उठती और स्वसंचालित रूप से गतिशील होती रहती है। यह सब होता है बिना थके, बिना ऊबे और बिना अधीर हुए। आज का श्रम कल ही फलप्रद होना चाहिए, इसका आग्रह उसे तनिक भी नहीं होता। फसल अपने समय पर पकेगी, तब तक उसे धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा ही करनी होगी, यह जानने के कारण अनाज की ढेरी कोठे में भरने की आतुरता भी उसे नहीं होती। इतने मन अनाज निश्चित रूप से होना ही चाहिए, इसके लंबे-चौड़े मनसूबे बाँधना भी उसे अनावश्यक प्रतीत होता है। मनोयोगपूर्वक सतत श्रम की साधना चलती ही रहती है, विघ्न-अवरोध न आते हों, सो बात भी नहीं, उनसे भी जैसे

बनता है, निपटता रहता है, पर उपेक्षा कभी भी खेत की नहीं होती, उसकी आवश्यकता पूरी किए बिना चैन भी नहीं पड़ता। समयानुसार फसल पकती भी है। अनाज भी पैदा होता है। उसे ईश्वर को धन्यवाद देता हुआ घर ले जाता है। कितने मन अनाज पैदा होना है, यह कभी सोचा ही नहीं, तो फिर असंतोष का कोई भी कारण नहीं। जो मिला उसे ईश्वरीय उपहार समझा गया। यही किसान की साधना है, जिसे वह होश सँभालने के दिन से लेकर मरण पर्यंत सतत निष्ठा के साथ चलाता ही रहता है। न विश्राम, न थकान, न ऊब न अन्यमनस्कता। साधना कैसे की जाती है और साधक को होना कैसा चाहिए, यह किसान से सीखा जा सकता है।

साधना का क्षेत्र अंतर्जगत है। अपने ही भीतर इतने खजाने दबे-गड़े हैं कि उन्हें उखाड़ लेने पर ही कुबेर जितना सुसंपन्न बना जा सकता है। फिर किसी बाहर वाले से माँगने-जाँचने की दीनता दिखाकर आत्मसम्मान क्यों गँवाया जाए? भीतरी विशिष्ट क्षमताओं को ही तत्त्वदर्शियों ने देवी-देवता माना है और बाह्योपचारों के माध्यम से अंत:संस्थान के भांडागार को करतलगत करने का विधि-विधान बताया है। शारीरिक बलवृद्धि के लिए डम्बल, मुद्गर उठाने-घुमाने जैसे कर्मकांड करने पड़ते हैं। बल इन उपकरणों में कहाँ होता है? वह तो शरीर की मांसपेशियों से ही उभरता है। उस उभार में व्यायामशाला के साधन-प्रसाधन सहायता भर करते हैं। उनसे मिलना कुछ नहीं। जो मिलना है, वह भीतर से ही मिलना है। ठीक यही बात आत्म-साधना के संबंध में भी कही जा सकती है। इस संदर्भ में प्रयुक्त होने वाले देवी-देवता एवं विधि-विधान अपनी जेब से कुछ नहीं देते। साधक की निष्ठा भर पकाते हैं, उसे कार्य-पद्धति भर सिखाते हैं। इतने का अभ्यस्त बनना ही साधनात्मक कर्मकांडों का प्रयोजन है। इतने भर से बात बन जाती है और राह मिल जाती है। साधक

अपनी मूर्च्छना जगाकर उज्ज्वल भविष्य की असीम संभावना स्वयं जगा लेता है।

आत्म-चेतना की जागृति ही साधना विज्ञान का लक्ष्य है। इसके लिए अपने चिंतन एवं कर्तृत्व का बिखराव रोककर अभीष्ट प्रयोजन के केंद्र बिंदु पर केंद्रीभूत करना पड़ता है। इसके लिए अपनी गतिविधियाँ लगभग उसी स्तर की रखनी पड़ती हैं, जैसी कि भौतिक क्षेत्र में सफलताएँ पाने वाले लोगों को अपनानी पड़ती हैं।

सधाने से सामान्य स्तर के प्राणी आश्चर्यजनक कार्य करके दिखाते हैं। वन गाएँ मनुष्य को पास भी नहीं आने देतीं और खेतों को उजाड़ कर रख जाती हैं, पर जब वे पालतू हो जाती हैं, तो दूध, बछड़े, गोबर आदि बहुत कुछ देती हैं। स्वयं सुखी रहती हैं और उसके पालने वाले भी लाभान्वित होते हैं यही बात अन्य वन्य पशुओं के बारे में लागू होती है। जंगली घोड़े, कुत्ते, सुअर, हाथी आदि स्वयं भूखे मरते, कष्ट उठाते और अनिश्चित जीवन जीते हैं। पालतू बन जाने पर वे स्वयं निश्चिततापूर्वक रहते हैं और अपने पालने वालों को भी लाभ पहुँचाते हैं। अपने भीतर शरीर तथा मनःक्षेत्र में एक से एक बढ़कर शक्तिशाली धाराएँ प्रवाहित होती हैं। वे निरुद्देश्य और अनियंत्रित स्थिति में रहकर वन्य पशुओं जैसी असंगत बनी रहती हैं। फलतः विकृत होकर वे सड़ी दुर्गंध की तरह अपने समूचे प्रभाव क्षेत्र को विषैला बना देती है। आग जहाँ भी रहती है, वहीं जलाती है। तेजाब की बोतल जहाँ भी फैलती है, वहीं गलाती है। विकृत प्रवृत्तियाँ, छितराई हुई आग और फूटी हुई तेजाब की बोतल की तरह हैं, उनसे केवल विनाश ही संभव होता है। यह दोनों ही वस्तुएँ यदि सुनियोजित रखी जा सकें, तो उनसे उपयोगी लाभ मिलते हैं और वे इतने बढ़े-चढ़े होते हैं कि सामान्य दीखने वाला मनुष्य पग-पग पर अपनी असामान्य स्थिति का परिचय देता है। साधना जीवन के बहिरंग और अंतरंग क्षेत्रों में सुसंस्कारित

सुव्यवस्था उत्पन्न करने का नाम है। इसे समझ पाने और कर पाने का प्रतिफल, जंगली जानवरों को पकड़कर पालतू बनाने की कला में प्रवीण व्यवसायियों जैसा ही प्राप्त होता है।

सरकस के जानवर कितने आश्चर्यजनक करतब दिखाते हैं। देखने वाले बाग-बाग हो उठते हैं। इन सधे जानवरों को प्रशंसा मिलती है, प्रतिष्ठा होती है और अच्छी खुराक मिलती है। सधाने वाले और सिखाने वाले को अच्छा वेतन मिलता है और सरकस के मालिकों को उन्हीं जानवरों के सहारे धनवान बनने का अवसर मिलता है, जो उच्छृंखल होने की स्थिति में स्वयं असंतुष्ट रहते और दूसरों को भी रुष्ट करते थे।

घरेलू उपयोग में आने वाले जानवर भी बिना सिखाए, सधाए अपना काम ठीक तरह कहाँ कर पाते हैं। बछड़ा युवा हो जाने पर भी अपनी मरजी से हल, गाड़ी आदि में चल नहीं पाता। घोड़े पीठ पर सवारी करना, उसे दुरकी चाल चलाना सहज ही संभव नहीं होता। ऊँटगाड़ी, ताँगा, बैलगाड़ी में जुतने वाले पशु अपने आप चलने नहीं लग जाते, उन्हें कठिनाई से प्यार-फटकार के सहारे धीरे-धीरे बहुत दिन में इस योग्य बनाया जाता है कि अपना काम ठीक तरह अंजाम देने लगें। साधना इसी का नाम है। इंद्रियों के समूह को मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के अंतःकरण चतुष्टय को वन्य पशुओं के समकक्ष गिना जा सकता है। अपने स्वाभाविक रूप में यह सारा ही चेतना परिवार उच्छृंखल होता है। जन्म-जन्मांतरों के पाशविक कुसंस्कारों की मोटी परत उस पर जमा होती है। उसे उतारने के लिए जिस खराद का उपयोग किया जाता है, उसे साधना कह सकते हैं। पशुता को परिष्कृत करके उसे मनुष्यता के, देवत्व के रूप में विकसित करना, अनगढ़ पत्थर को कलात्मक प्रतिमा के रूप में गढ़ देने के सदृश एक विशिष्ट कौशल है। इस प्रवीणता में पारंगत होने का नाम ही आत्मसाधना है। पशुओं को प्रशिक्षित करने और

पत्थर से मूर्तियाँ बनाने की तरह कार्य कुछ कठिन तो है, पर है ऐसा जिसमें लाभ-ही-लाभ भरा पड़ा है।

कठपुतली नचाने वाले, हाथ की सफाई से बाजीगरी के कौतुक दिखाने वाले, बंदर और रीछ का तमाशा करने वाले जादूगर जैसे लगते हैं और उन्हें चमत्कारी समझा जाता है। यह चमत्कार और कुछ नहीं, किसी विशेष दिशा में तन्मयतापूर्वक धैर्य और उत्साह के साथ लगे रहने का प्रतिफल मात्र है। ऐसा चमत्कार कुतूहल प्रदर्शन से लेकर किसी भी साधारण-असाधारण कार्य में आशाजनक सफलता प्राप्त करने के रूप में कभी भी, कहीं भी, देखा जा सकता है। अपनी ईश्वरप्रदत्त विशेषताओं को उभारने और महत्त्वपूर्ण प्रयोजन में नियुक्त करने का नाम साधना है। साधना का परिणाम सिद्धि के रूप में सामने आता है। यह नितांत स्वाभाविक और सुनिश्चित है। यदि अपने आपे को साधा जाए, व्यक्तित्व को खरादा जाए, तो वह सब कुछ प्रचुर परिमाण में अपने ही घर पाया जा सकता है, जिसकी तलाश में जहाँ-तहाँ मारे-मारे फिरना और मृगतृष्णा की तरह निराश भटकना पड़ता है।

जीवन साधना का मूल प्रयोजन है—सुसंस्कारों का अभिवर्द्धन। व्यक्तित्व के साथ संस्कार ही अविच्छिन्न रूप से जुड़े होते हैं। लाखों योनियों में भ्रमण करते समय जो चिंतन और कर्म अभ्यास में आता रहा है, वही हमारी आज की मन:स्थिति पर छाया हुआ है। हटाने के सामान्य प्रयत्न उन्हें निरस्त करने में सफल नहीं हो पाते। निकृष्ट योनियों में मात्र पेट और प्रजनन यही दो लक्ष्य रहते हैं। इसी की पूर्ति में निम्नस्तरीय प्राणियों की जीवन संपदा निमग्न रहती है। वे अपने को शरीर ही मानते हैं, उसी की परिधि में सोचते और उसी की सुविधा को लिए विभिन्न कर्म करते हैं। यह प्रक्रिया प्राणी के स्वभाव का अंग बन जाती है और मनुष्य जन्म पाने पर भी उसी अभ्यस्त ढर्रे में घूमने लगती है।

मनुष्य को विकसित स्थिति मिली है। उसका उपयोग उच्चस्तरीय उद्‌देश्यों में ही होना चाहिए, किंतु चेतना पर जमे हुए कुसंस्कार वैसा करने नहीं देते और घूम-फिर कर ढर्रा उसी पशु-प्रवृत्ति की पुरानी परिधि में चक्रवत् घूमने लगता है। स्वल्प बुद्धि प्राणी पेट के लिए खाद्य पदार्थ भर तलाश करता है। मनुष्य बुद्धिमान होने के कारण शरीर की आवश्यकताएँ जुटाने के लिए ही कमाता और उसे बढ़ाता है। कामेच्छा अन्य प्राणियों की भी होती है और वे जोड़े मिलाने, बच्चे पैदा करने और उस तैयारी में नर-मादा किसी कदर घोंसला बनाने, अंडा सेने आदि में सहयोगी बनते हैं। मनुष्य जीवन में भी यही चलता है। क्षुधा की आवश्यकता का बढ़ा-चढ़ा रूप लोभ है और प्रजनन का विकसित स्वरूप मोह है। देखा जाता है कि मनुष्यों में भी यही दो प्रवृत्तियाँ प्रेरणा-केंद्र बनकर रहती हैं और इन्हीं के लिए उनका सारा चिंतन एवं क्रिया-कलाप संलग्न रहता है।

विकसित मनुष्य की प्रगतिशील स्थिति के अनुरूप वही पशु-प्रवृत्तियाँ वासना एवं तृष्णा बन जाती हैं। शरीर की इंद्रियाँ अपने भोग माँगती हैं। उनकी बढ़ी-चढ़ी स्थिति वासना कहलाती है। मन, अहंकार की तृप्ति के लिए स्वामित्व की परिधि बढ़ाना चाहता है। व्यक्तियों पर शासन और वस्तुओं पर आधिपत्य करने की ललक तृष्णा कहलाती है। लोभ और मोह के, वासना और तृष्णा के अतिरिक्त और कोई लक्ष्य सामान्य मनुष्यों का रहता नहीं। कठिनाई एक और भी है कि वे माँगें क्रमशः अति की सीमा तक जा पहुँचती है और नीति-धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन करके अपराधी स्थिति तक अपना ली जाती हैं और उचित-अनुचित का भेद किए बिना किसी भी प्रकार इन लिप्साओं की पूर्ति में जुट पड़ने के लिए कदम उठते चले जाते हैं। उपलब्ध चतुरता के सहारे वे अनर्थमूलक अवांछनीय गतिविधियाँ गुप्त एवं

प्रकट रूप में चलती रहती हैं और बहुमूल्य जीवन-संपदा उसी कुचक्र में नष्ट हो जाती है, जबकि इस अलभ्य अवसर का उपयोग उस प्रयोजन में होना चाहिए था, जो मनुष्य जीवन के वरदान का सार्थक सदुपयोग कर सके।

पशु प्रवृत्तियों के सघन कुसंस्कारों से चेतना को मुक्ति दिलाना, कुत्साओं और कुंठाओं के नरक से निकलकर स्वर्गीय दृष्टिकोण अपनाना और उस दिव्य मन:स्थिति के आधार पर स्वर्गीय परिस्थितियों का आनंद लेना। यही है सार्थक मानव जीवन का स्वरूप। इस स्थिति को अति सरलतापूर्वक प्राप्त करने की स्थिति मनुष्य जीवन में है, किंतु सबसे बड़ी बाधा जन्म-जन्मांतरों से संग्रहीत उन कुसंस्कारों की है, जो क्षुद्र प्राणियों की स्थिति में भले ही उपयोगी रहे हों, विकसित मनुष्य जीवन की दृष्टि से नितांत पिछड़ेपन के चिह्न ही माने जा सकते हैं। इन्हें निरस्त करना और मानवोचित चिंतन एवं कर्तृत्व विकसित करके देव संस्कारों की स्थापना करना, यही है परम पुरुषार्थ। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो प्रयास किए जाते हैं, उन्हें जीवन-साधना कहते हैं।

संस्कार, चेतना पर जमी हुई उस पर्त का नाम है, जो विचार और कार्यों के समन्वय में धीरे-धीरे जमती है, किंतु पीछे वह स्वभाव का अंग बनकर अंत:चेतना में अपनी जड़ें बहुत गहराई तक जमा लेती है। इन्हें उखाड़कर नई पौध लगानी हो, तो उसके लिए मरुस्थल को सुरम्य उद्यान बनाने वाले कुशल कृषक एवं माली जैसी पूरी तत्परता और कुशलता का परिचय देना पड़ता है। व्यक्तित्व के स्तर में ऐसे ही प्रयासों को जीवन-साधना की संज्ञा दी जा सकती है। इसके लिए विचारों का और कार्यों का स्तर ऊँचा उठाने के लिए अनवरत प्रयत्न दीर्घकाल तक जारी रखना पड़ता है, ताकि सद्भावनाएँ और सत्प्रवृत्तियाँ स्वभाव का उसी प्रकार अंग बन जाएँ, जिस प्रकार अविकसित जीवन की पशु-प्रवृत्तियाँ पूरी गहराई तक जमी होती हैं

और अपनी प्रेरणाओं से फिनर पेण्डुलम की तरह सारी मशीन को बलपूर्वक घुमाती रहती हैं।

साधकों को यह समझ लेना चाहिए कि उन्हें मानवी स्तर का दिव्य जीवन जीने के लिए क्या करना होगा? साधारणतः इसके लिए दो कदम उठाते हुए आगे बढ़ते चलना होता है। एक को उपासना कहते हैं, दूसरे को साधना। उपासना में ईश्वर स्मरण, पूजा-पाठ, जप-ध्यान, स्वाध्याय, सत्संग, तीर्थ, दर्शन आदि मुख्य हैं। इनका आधार अपने उद्गम-केंद्र एवं अंतिम लक्ष्य ईश्वर के संबंध में छाई रहने वाली उपेक्षा वृत्ति को दूर करना है। जीवन का उद्देश्य-लक्ष्य प्रायः विस्मृति के गर्त में पड़ा रहता है। मस्तिष्कीय जानकारी और तोता रटंत की दृष्टि से तो कई व्यक्ति अध्यात्म विषयों के विवेचनकर्ता और प्रवक्ता होते हैं, पर उनकी निजी आस्थाएँ गई-गुजरी ही देखी जाती हैं। ऐसी स्थिति में वे विकसित व्यक्तित्व का लाभ नहीं उठा पाते और गधे की पीठ पर सोना लदा रहने पर भी उसकी गरीबी दूर न होने का उदाहरण बनते रहते हैं। उपासना एक आत्मिक व्यायाम है, जिसके सहारे अंतःचेतना का गहराई तक प्रशिक्षण करना और अध्यात्मतत्त्वों को हृदयंगम करना होता है।

आत्मोत्कर्ष का दूसरा चरण है—साधना। इसमें अपने चिंतन को उत्कृष्ट और कर्तृत्व को आदर्श बनाने के लिए हर घड़ी प्रयत्नशील रहने को सुनिश्चित योजना बनाकर चलना पड़ता है। उपासना कुछ मिनट या कुछ घंटे की होने से काम चल सकता है, किंतु साधना तो अनवरत चलनी चाहिए। उसमें ढील या छूट की तनिक भी गुंजाइश नहीं है।

उपासना के लिए अमुक विधि-विधान निश्चित है, पर साधना में तो जो भी कार्य परिस्थितिवश करने पड़ें, उन्हीं को सुसंस्कृत बनाने के लिए परिष्कृत दृष्टिकोण एवं विवेकसम्मत कार्यपद्धति का निर्धारण करना होता है। इसके लिए उपासना जैसी अमुक स्तर की,

अमुक विधि-विधान की क्रिया-प्रक्रिया निर्धारित नहीं की जा सकती। शरीर-निर्वाह, परिवार-पोषण एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिए अर्थ उपार्जन, व्यवस्था, योजना तथा अन्य कई प्रकार के काम हर व्यक्ति को अनिवार्यत: करने पड़ते हैं। उनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। छोड़ देने पर तो शरीर-यात्रा तक न चल सकेगी फिर अन्य अनिवार्य उत्तरदायित्वों का निर्वाह तो हो ही कैसे सकेगा। अस्तु, जीवनयापन के विभिन्न पक्ष पूरे करने के लिए किए जाने वाले कार्यों को ही सुसंतुलित बनाना पड़ता है। अव्यवस्था तो अतिवाद से फैलती है। संतुलन को ही कर्म-कौशल अथवा योग कहा गया है। जीवन-साधना को भौतिक और आत्मिक उभयपक्षीय सुव्यवस्था की संतुलित नीति भी कहा जा सकता है।

इसके लिए आवश्यक है कि अपने समय, श्रम, मनोयोग, प्रभाव, साधना, संपदा जैसी ईश्वरप्रदत्त विभूतियों का सदुपयोग करने की व्यवस्था बनाई जाए और उन्हें किस कार्य में, कितनी मात्रा में, किस प्रकार नियोजित किया जाता है, इसकी दूरदर्शितापूर्ण क्रम व्यवस्था बनाई जाए। यह ठीक तरह बन पड़े, तो समझना चाहिए कि जीवन-साधना का वह मार्ग मिल गया, जिस पर चलते हुए सुनिश्चित रूप से लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।

जीवन-साधना के साधक को अपना जीवन एकांगी नहीं बनने देना चाहिए। शरीर और उसके साथ जुड़े हुए पारिवारिक, सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए धनोपार्जन आवश्यक है, पर वह संतुलित सीमा में होना चाहिए। इसी प्रकार परिवार के लोगों को सुविकसित बनाने का कर्त्तव्य पूरा करना चाहिए, पर यह सब संतुलित मात्रा में होना चाहिए, ताकि लोभ और मोह की अति अपने ऊपर उन्माद की तरह सवार न हो जाए। इसी उन्माद को माया कहते हैं। इसी स्थिति में पड़े हुए जीव के लिए आदर्शवादी चिंतन संभव नहीं रहता। वे आत्मसमीक्षा भी नहीं कर पाते और आत्मोत्कर्ष के लिए

जिस चरित्र निष्ठा और परमार्थ परायणता की आवश्यकता होती है, उसके लिए भी कुछ सोच या कर नहीं पाते। जीवन ऐसी ही उथली बाल क्रीड़ाओं में उलझते-उलझाते समाप्त हो जाता है। जब चिंतन और कर्म की समस्त धाराएँ लिप्साओं की पूर्ति में ही जुट पड़ीं, तो उच्च उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कुछ बच ही न पड़ेगा और फिर उस क्षेत्र की उपलब्धियों की संभावना ही कहाँ रहेगी?

जीवन-साधना में संतुलित नीति निर्धारण और श्रम विभाजन यही दो पक्ष मुख्य हैं। चिंतन की नीति श्रम को प्रभावित करती है और कर्म का सीधा संबंध श्रम से ही है। अस्तु, इन्हीं दो को प्रधान इकाई मानने और उन्हें सुनियोजित करने से आत्मोत्कर्ष का प्रयोजन पूरा होता है।

किन कार्यों के संबंध में, कितनी मात्रा में, किस प्रकार सोचा और किया जाए, यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इसमें भौतिक आकांक्षाओं को सीमित करना पड़ता है, ताकि बची हुई शक्तियों को उच्च उद्देश्यों के लिए लगाया जा सके। उच्च उद्देश्यों के लिए किए जाने वाले सामान्य से क्रिया-कलाप, कर्मकांड भी साधना की परिभाषा में आ जाते हैं। जीवन की गतिविधियों में तो उनकी अपेक्षा कई गुना अधिक समय, श्रम और मनोयोग लगता है। यदि उन्हें उच्च उद्देश्यों को लक्ष्य करके किया जा सके, तो सारा जीवन ही साधनामय हो सकता है। वस्तुतः जीवन के हर क्रिया-कलाप के साथ साधनात्मक उद्देश्य और तत्परता जोड़कर ही जीवन-साधना का लाभ सही अर्थों में पाया जा सकता है।

जीवन-साधना के साधक को कोई भिन्न प्रकार के क्रिया-कलाप नहीं करने पड़ते किंतु बाहर से वे सामान्य लोगों जैसे दीखते हैं, किंतु उनके कार्य जिस आधार भूमि पर खड़े होते हैं तथा उनका लक्ष्य और जो उपलब्धियाँ होती हैं, उनमें सामान्य जीवन जीने वालों की अपेक्षा जमीन-आसमान जैसा अंतर होता है। जीवन-

साधना के मर्म को स्पष्ट करने के लिए कुछ सूत्र इस प्रकार समझे जा सकते हैं—

१. शारीरिक—सामान्य मनुष्य शरीर को अपने मौज-मजे का साधन मानकर चलते हैं और इंद्रिय-सुखों के पीछे भटकते रहते हैं। साधक शरीर और उसकी क्षमताओं को ईश्वर की पवित्र अमानत मानते, समय का एक-एक क्षण, पसीने की एक-एक बूँद और जीवन- शक्ति का एक-एक कण श्रेष्ठतम कार्यों के लिए लगाने की तत्परता बरतते हैं।

साधक को भोगों के आकर्षण और इंद्रियों के भोग डिगा नहीं सकते, क्योंकि वह उन्हें प्रधान नहीं मानता, उनसे प्रेरित होकर वह कार्यों का निर्धारण करने का आदी नहीं होता। वह इंद्रियों आदि को अपना अधीनस्थ कर्मचारी-सहयोगी भर मानता है, इसलिए उनका उपयोग करते हुए भी उन्हें बहकने से रोकने में समर्थ होता है। जो इंद्रियाँ सामान्य व्यक्ति के लिए भयंकर समस्याएँ खड़ी करती रहती हैं, उन्हें साधक अपने संकल्प से बफादार, सहयोगी बनाकर जीवन का सच्चा आनंद अर्जित करने में समर्थ होता है।

२. मानसिक—बीज रूप में मनुष्य की गतिविधियों की धुरी उसके चिंतन पर आधारित रहती है। जीवन साधक को मस्तिष्क में केवल उपयोगी, रचनात्मक एवं नैतिक सद्विचारों को स्थान देना होता है। हर विचार, हर चिंतन को मस्तिष्क में प्रवेश देने तथा उसकी हलचल पैदा होने देने के पूर्व ही उसको औचित्य की कसौटी पर कस लेना आवश्यक होता है। अनैतिक कुविचारों और मनोविकारों को मस्तिष्क में प्रवेश नहीं दिया जाना चाहिए।

यहाँ स्मरणीय यह है कि मस्तिष्क खाली नहीं रहता। यदि उसे सतत विधेयात्मक चिंतन में प्रयासपूर्वक न लगाए रखा जाए, तो वह शैतान की दुकान बनने लगता है। यदि बाह्य वातावरण के प्रभाव से अशुभ विचार मस्तिष्क में प्रवेश करें, तो साधक सद्विचारों से

उनकी काट करता है। प्रखर सद्विचारों की सेना साधक के मस्तिष्क में बराबर सतर्क रहनी चाहिए।

३. पारिवारिक—परिवार को लोग, मानो जंजाल गिनते हैं। जब उसे अपनी अनियंत्रित, अवांछनीय आकांक्षाओं की पूर्ति का, स्वार्थों की सिद्धि का साधन मानकर चला जाता है, तब तो सचमुच परिवार माया बंधन के ही रूप में विकसित होता जाता है, किंतु जीवन साधना का साधक उसे आत्मीयता विकास की सीढ़ी, आत्मिक क्षमताओं को पुष्ट बनाने की व्यायामशाला के रूप में मानकर चलता है। उस स्थिति में गृहस्थ तपोवन बन जाता है तथा उसमें रहने वाला व्यक्ति उसके माध्यम से उच्चस्तरीय साधना करता है।

अपने शरीर की ही तरह परिवार के अन्य सदस्यों की आवश्यकताओं को अनुभव करना, आत्मीयता का क्षेत्र विकसित करना, संवदेना और सहानुभूति जैसे उच्च गुणों का विकास परिवार के सहारे ही जीवन साधक करने में समर्थ होता है।

संतान के प्रति साधक का दृष्टिकोण साफ रहना चाहिए। समाज को योग्य नागरिक प्रदान करना ही, उसका वास्तविक उद्देश्य है। साधक निरुद्देश्य संतानोत्पादन के चक्कर में न पड़कर अपनी शक्ति और सामर्थ्य सीधे श्रेष्ठ व्यक्तियों के निर्माण में लगा सकता है, स्नेह-वात्सल्य की अनुभूति अन्य बच्चों के माध्यम से ही की जा सकती है। व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर साधक संतानोत्पादन के भार से स्वयं को और समाज को मुक्त रखते हुए कहीं अधिक सार्थक जीवन जी सकता है तथा अधिक पुण्य का भागीदार हो सकता है।

४. आर्थिक—धन को माया भी कहते हैं और लक्ष्मी भी। जब संपत्ति का उपयोग भोगों के लिए मनमाने ढंग से किया जाता है, तो वह माया बन जाती है और जब उसे आदर्शों, ईश्वरीय कार्यों के लिए नियोजित किया जाता है, तो वह लक्ष्मी रूप में सामने आती है।

साधक धन-संपत्ति को उपयोगी और आवश्यक तो माने, किंतु उसकी सीमा और सार्थकता पर भी ध्यान रखे। न उसकी उपेक्षा करके अव्यावहारिक बने और न उसी में डूबकर मूर्ख कहलाए।

अर्थोपार्जन के लिए ८ घंटे पर्याप्त समझे जाएँ। तत्परता और मनोयोग के साथ इतने समय में प्रचुर साधन-संपत्ति अर्जित की जा सकती है। एक व्यक्ति ही उपार्जन करे अन्य खाएँ, यह भी भूल है। परिवार के सभी सदस्य अपने-अपने ढंग से आर्थिक संतुलन का प्रयास करें, तो जीवन की जटिलता सरसता में बदलते देर न लगे। उपार्जन और उसके अनुरूप सदुपयोग की सम्यक व्यवस्था इसी ढंग से बन सकती है।

साधक स्तर का व्यक्ति सादगी का जीवन ही जीता है। अधिक उपार्जन के कारण अधिक निरर्थक खरचे करना विकृत दृष्टिकोण है। जहाँ सामान्य व्यक्ति अपव्यय की होड़ में बड़प्पन दिखाना चाहता है, वहाँ साधक संतुलन में अपना गौरव मानता है और एक-एक पाई उपयोगी कार्यों में नियोजित करता है।

५. सामाजिक—सामान्य व्यक्ति के सामाजिक क्रियाकलाप अपने स्वार्थों की धुरी पर घूमते हैं, जबकि साधक उन्हें परमार्थ-वृत्ति से करता है। समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन और वितरण के लिए कृषि, उद्योग और व्यापार; समाजतंत्र एक विशाल यंत्र के एक पुरजे के रूप में नौकरी, रोग पीड़ा से जन समाज की मुक्ति के लिए चिकित्सा, न्यायिक अधिकारों की रक्षा के लिए वकालत तथा जीवन को सार्थकता की दिशा देने के लिए पौरोहित्य आदि कार्य करते हुए हर व्यक्ति साधनापरक जीवन जी सकता है।

साधक स्तर के व्यक्तियों में से हर एक अपनी-अपनी स्थिति के अनुरूप लोकमंगल के कार्य चुन सकता है और उन्हें जीवन में समुचित स्थान दे सकता है। ऐसी योजना बनाते समय समाज के

भावनात्मक परिष्कार की बात को प्राथमिकता देना उचित है। युग-निर्माण मिशन के अंतर्गत घरेलू ज्ञान मंदिर, झोला पुस्तकालय, ज्ञानघट, एक घंटा नित्य समयदान आदि इन्हीं उच्च प्रयोजनों के लिए लगाने का आग्रह उसके दूरगामी महत्त्वपूर्ण परिणामों को लक्ष्य करके ही किया जाता है। इन्हें उच्चस्तरीय सेवा-परमार्थ के रूप में स्वीकारा और अपनाया जा सकता है।

भौतिक समृद्धि और आत्मिक परिस्थिति की तुलना की जाए, तो उनके बीच हजारों गुना अंतर पाया जाएगा। संपत्ति से सुविधा भर बढ़ती है, पर संस्कारों की उत्कृष्टता तो मनुष्य को अपना और असंख्यों का उद्धार कर सकने वाले देवत्व का अनुदान ही सामने लाकर खड़ा कर देती है। अस्तु, हमारी परमार्थपरायणता, लोकमंगल की समाजसेवा सुविधा का स्तर या भौतिक सुविधाएँ बढ़ाने की अपेक्षा आत्मिक उत्कृष्टता बढ़ा सकने वाली योजनाओं में ही अधिक संलग्न रहना चाहिए। यों उपेक्षा तो भौतिक साधनों के संवर्द्धन की भी नहीं करनी है, अपने स्थान पर उपयोगिता तो उनकी भी है।

उपर्युक्त सिद्धांतों को ध्यान में रखकर चला जाए, तो ईश्वर प्रदत्त जीवन-संपदा के समय, श्रम, मनोयोग, प्रभाव एवं साधनों का उपयोग उस प्रक्रिया में हो सकता है, जिसमें जीवन- साधना का प्रयोजन पूरा हो सके।

मोटर ड्राइवर के सामने कई मीटर लगे होते हैं, जिनके माध्यम से वह हर समय यह देखता रहता है कि गाड़ी की चाल कितनी है? तेल कितना है? बैटरी की स्थिति क्या है? गरमी कितनी है? मीटर खराब हो जाने पर यह जानकारी न मिले, तो ड्राइवर के लिए गाड़ी चलाना कठिन हो जाएगा। हमें अपनी गतिविधियों पर सूक्ष्म समीक्षा का मीटर बैठाना चाहिए और उसे निरंतर चालू रहने देना चाहिए। देखना चाहिए कि निर्धारित दिनचर्या का अकारण उल्लंघन तो नहीं हो रहा है? आलस्य के कारण शारीरिक श्रम में

गति मंद या अस्त-व्यस्तता तो उत्पन्न नहीं हो रही है ? मन में प्रमाद तो नहीं घुस रहा है और अनुत्साह, उपेक्षा, अन्यमनस्कता, चंचलता की मानसिक रुग्णता तो नहीं पनप रही है। जहाँ भी गड़बड़ी दिखाई पड़े, इन दोनों वाहनों को चाबुक मारकर तुरंत सही करना चाहिए। शरीर और मन को जब प्रतीत हो जाता है कि संचालक चेतना सतर्क है और हमारे अंधेर पर हंटर पड़ता है, तो वे कुछ ही समय में सीधे हो जाते हैं और अनुशासित व्यवस्था के अनुरूप अपनी हरकतें स्वयं सुधार लेते हैं।

एक मीटर अपनी गतिविधियों पर यह रखना चाहिए कि उनमें अनैतिकता के तत्त्व घुसपैठ तो नहीं कर रहे हैं। काम भले ही भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किए गए हों, पर वे सभी नैतिक होने चाहिए। उनके पीछे निर्वाह, उत्पादन एवं सर्वोपयोगिता की दृष्टि रहनी चाहिए। ऐसा कुछ न किया जाए, जिससे प्रत्यक्ष या परोक्ष में सामाजिक सुव्यवस्था पर आँच आती हो और लोगों को गलत मार्ग अपनाने का मार्ग एवं प्रोत्साहन मिलता हो।

साधारण काम भी संकुचित स्वार्थपरता से ऊँचे उठकर समाज की आवश्यकताएँ पूरी करने और व्यक्तिगत कर्त्तव्यपालन की दृष्टि रखकर किए जाएँ, तो वे चित्त में हलकापन और संतोष बनाए रख सकने में समर्थ रहेंगे। उनमें अनैतिकता का समावेश न हो सकेगा। किसान यदि समाज की, अन्न की आवश्यकता पूरी करने में अपने आप को स्वयंसेवक भर माने, तो वह कार्य उसके स्वयं के लिए संतोषप्रद तो होगा ही, साथ ही उत्कृष्टता की दृष्टि भी बनी रहेगी। वह उत्तमकोटि का अधिक अन्न उपजाना अपने लिए गर्व की बात अनुभव करेगा। इसके विपरीत यदि उसकी दृष्टि स्वार्थपरता से सनी हुई है, तो फिर तमाकू जैसी हानिकारक फसलें भी अर्थ-लोलुपता के कारण उत्पन्न करने में संकोच अनुभव न करेगा। उच्च दृष्टिकोण रखकर काम करने वाले श्रमिक, व्यवसायी, अध्यापक, शिल्पी,

कलाकार आदि सभी वर्ग के लोग अपने कार्यों का स्तर एवं विस्तार बढ़ाने में लोकहित पूरा होते देखेंगे और अधिक मनोयोग से अधिक काम करेंगे। स्पष्ट है कि उससे उनकी निज की संपत्ति और प्रतिष्ठा बढ़ेगी, साथ ही समाज को भी समृद्धि एवं प्रगति का लाभ मिलेगा।

एक दिन का जीवन, उसका श्रेष्ठतम सदुपयोग यह दृष्टिकोण लेकर क्रमबद्ध सर्वतोमुखी कार्यपद्धति बनाई जाए और उसमें अपने श्रम, मन एवं साधनों की त्रिविध संपदाओं को नियोजित रखा जाए, तो प्रतीत होगा कि वस्तुत: कर्मयोगी जैसी साधना चल रही है और व्यक्तित्व का स्तर हर दृष्टि से समुचित बनता चला जा रहा है। यह निर्धारण, निरीक्षण एवं प्रताड़ना का क्रम यदि प्रतिज्ञापूर्वक एक वर्ष तक चला लिया जाए, तो सरकस के जानवरों की तरह अपनी सभी प्रवृत्तियाँ सध जाती हैं और सिद्धपुरुषों जैसा देवत्व अपने भीतर से ही उदय हुआ दृष्टिगोचर हो सकता है। पीछे तो स्वभाव ही बदल जाता है और जिस प्रकार निकृष्टता स्वभाव का अंग बनी हुई थी, उसी प्रकार उत्कृष्टता भी साधारण अभ्यास का अंग बन जाती है और फिर बिना किसी प्रयत्न के स्वभावत: देव जीवन जिया जाने लगता है।

जीवन-साधना के साधक को अपना जीवन साधनात्मक संपुट में बाँध लेना चाहिए। संध्या वंदन के लिए सूर्योदय का प्रभातकाल और सूर्यास्त का सायंकाल निर्धारित है। ये दोनों ही समय रात्रि और दिन के मिलन की संधि वेला हैं। इसलिए उस समय किए जाने वाले उपासना-कृत्य को संध्या कहते हैं। यह साधारण संध्यावंदन का समय हुआ। व्यक्तिगत जीवन में सुषुप्ति को रात्रि और जागृति को दिन कहा जा सकता है। इन दोनों के मिलनकाल को वैयक्तिक संध्या समय कह सकते हैं। जिस प्रकार कर्मकांडपरक संध्या विधान प्रात:-सायं किया जाता है,

उसी प्रकार निजी संध्या वेला में चिंतन और मनन की प्रक्रिया संपन्न करनी चाहिए। उसे उपासना का आवश्यक अंग बनाना चाहिए। इससे जीवन-साधना संपन्न करने में भारी सहायता मिलती है।

मस्तिष्क और शरीर की हलचलें अंतःकरण में जड़ जमाकर बैठने वाली आस्थाओं की प्रेरणा पर अवलंबित रहती हैं। आध्यात्मिक साधनाओं का उद्देश्य इस संस्थान को प्रभावित एवं परिष्कृत करना ही होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति में वह साधना बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है, जिसमें उठते ही नए जन्म की और सोते ही नई मृत्यु की मान्यता को जीवंत बनाया जाता है।

प्रातः बिस्तर पर जब आँख खुलती है, तो कुछ समय आलस्य को दूर करके शैय्या से नीचे उतरने में लग जाता है। प्रस्तुत उपासना के लिए यह सर्वोत्तम समय है। मुख से कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं, पर यह मान्यता-चित्र मस्तिष्क में अधिकाधिक स्पष्टता के साथ जमाना चाहिए कि "आज का एक दिन एक पूरे जीवन की तरह है, इसका श्रेष्ठतम सुदपयोग किया जाना चाहिए। समय का एक भी क्षण न तो व्यर्थ गँवाना चाहिए और न अनर्थ कार्यों में लगाना चाहिए।" सोचा जाना चाहिए कि "ईश्वर ने अन्य किसी जीवधारी को वे सुविधाएँ नहीं दीं, जो मनुष्य को प्राप्त हैं। यह पक्षपात या उपहार नहीं, वरन विशुद्ध अमानत है, जिसे उत्कृष्ट आदर्शवादी रीति-नीति अपनाकर पूर्णता प्राप्त करने, स्वर्ग और मुक्ति का आनंद इसी जन्म में लेने के लिए दिया गया है। यह प्रयोजन तभी पूरा होता है, जब ईश्वर की इस सृष्टि को अधिक सुंदर, समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाने के लिए उपलब्ध जीवन-संपदा का उपयोग किया जाए। उपयोग के लिए यह सुर-दुर्लभ अवसर मिला है। यह योजनाबद्ध सदुपयोग करने में ही ईश्वर की प्रसन्नता और जीवन की सार्थकता है।

मंत्र जाप की तरह इन शब्दों को दोहराने की जरूरत नहीं है, वरन अत्यंत गंभीरतापूर्वक इस तथ्य को हृदयंगम किया जाना चाहिए। कल्पना चित्र सिनेमा फिल्म की तरह स्पष्ट उभरने चाहिए और उनके साथ इतनी गहरी आस्था का पुट देना चाहिए कि यह चिंतन वस्तुस्थिति बनकर मस्तिष्क को पूरी तरह आच्छादित कर ले।

शौच जाने की आवश्यकता अनुभव हो, तो विलंब नहीं करना चाहिए और शय्या त्यागकर नित्यकर्म में लग जाना चाहिए। थोड़ी गुंजाइश हो, तो उठने से लेकर सोने के समय तक की दिनचर्या इसी समय बना लेनी चाहिए। यों नित्यकर्म करते हुए भी दिनभर का समय विभाजन कर लेना कुछ कठिन नहीं है। फुरती और चुस्ती से काम निपटाए जाएँ, तो कम समय में अधिक काम हो सकता है। सुस्ती और उदासी में ही समय का भारी अपव्यय होता है, योजनाबद्ध दिनचर्या बनाई जाए और उसका मुस्तैदी से पालन किया जाए, तो ढेरों समय बच सकता है। एक काम के साथ दो काम हो सकते हैं। जैसे आजीविका उपार्जन के बीच खाली समय में स्वाध्याय तथा मित्रों से परामर्श हो सकता है। परिवार-व्यवस्था में मनोरंजन का पुट रह सकता है। निद्रा, नित्यकर्म, आजीविका उपार्जन, स्वाध्याय, उपासना, परिवार व्यवस्था, लोकमंगल आदि कार्यों में, कौन, कब, किस प्रकार, कितना समय देगा—यह हर व्यक्ति की अपनी परिस्थिति पर निर्भर है, पर समन्वय इन सब बातों का रहना चाहिए। दृष्टिकोण यह रहना चाहिए कि आलस्य, प्रमाद में एक क्षण भी नष्ट न हो और सारी गतिविधियाँ इस प्रकार चलती रहें, जिनमें आत्मकल्याण, परिवार-निर्माण एवं लोकमंगल के तीनों तथ्यों का समुचित समावेश बना रहे। इन सारे क्रिया-कलापों में आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया जाए। दुष्प्रवृत्तियों को, दुर्भावनाओं को स्थान न मिलने दिया जाए। जहाँ भी जब भी गड़बड़ दिखाई पड़े, तब वहीं उसकी रोकथाम की जाए और गिरते कदमों को सँभाल लिया जाए। समय, श्रम, चिंतन

एवं धन का तनिक-सा अंश भी अवांछनीय प्रयोजन में नष्ट न होने दिया जाए। इन चारों ही संपदाओं का एक-एक कण सदुपयोग में लगता रहे, इस तथ्य पर तीखी दृष्टि रखी जाए, भूलों को तत्काल सुधारते रहा जाए, तो उस दिन के, उस जीवन को संतोषजनक रीति से जिया जा सकता है।

जल्दी सोने से और जल्दी उठने का नियम जीवन-साधना में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को बनाना ही चाहिए। ब्राह्ममुहूर्त का समय अमृतोपम है, उस समय किया गया हर कार्य बहुत ही सफलतापूर्वक संपन्न होता है। अस्तु, जो भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य प्रतीत होता हो, उसे उसी समय करना चाहिए। सबेरे जल्दी उठना उन्हीं के लिए संभव है, जो रात्रि को जल्दी सोते हैं। इस मार्ग में जो अड़चनें हों उन्हें बुद्धिमत्तापूर्वक हल करना चाहिए, किंतु सोने और जल्दी उठने की परंपरा तो अपने लिए ही नहीं पूरे परिवार के लिए बना ही लेनी चाहिए।

रात्रि को सोते समय वैराग्य एवं संन्यास जैसी स्थिति बनानी चाहिए। बिस्तर पर जाते ही यह सोचना चाहिए कि निद्राकाल एक प्रकार का मृत्यु विश्राम है। आज का नाटक समाप्त, कल दूसरा खेल खेलना है। परिवार ईश्वर का उद्यान है, उसमें अपने को कर्त्तव्य-निष्ठ माली की भूमिका निभानी थी। शरीर, मन, ईश्वरीय प्रयोजनों को पूरा करने के लिए मिले जीवन-रथ के दो पहिये हैं, इन्हें सही राह पर चलाना था। धन, प्रभाव, पद यह विशुद्ध धरोहर है, उन्हें सत्प्रयोजनों में ही लगाना था। देखना चाहिए कि वैसा ही हुआ या नहीं? जहाँ गड़बड़ी हुई दिखाई दे, वहाँ पश्चात्ताप करना चाहिए और अगले दिन वैसी भूल न होने देने में कड़ी सतर्कता बरतने की अपने आप को चेतावनी देनी चाहिए।

संन्यासी अपना सब कुछ ईश्वर अर्पण करके परमार्थ-प्रयोजन में लगता है। सोते समय साधक की वैसी ही मनःस्थिति होनी

चाहिए। मिली हुई अमानतें और सौंपी हुई जिम्मेदारियाँ आज ईमानदारी के साथ सँभाली गईं। यदि कल वे फिर मिलीं तो फिर उन्हें ईश्वरीय आदेश मानकर सँभाला जाएगा। अपना स्वामित्व किसी भी व्यक्ति या पदार्थ पर नहीं, यहाँ जो कुछ है, सो सब ईश्वर का है। अपना तो केवल कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व भर है, उसे पूरी ईमानदारी और पूरी तत्परता से निभाते भर रहना अपने लिए पर्याप्त है। परिणाम क्या होते हैं, क्या नहीं, यह परिस्थितियों पर निर्भर है। अस्तु, सफलता-असफलता की चिंता न करते हुए हमें आदर्शवादी कर्त्तव्यपरायणता अपनाए रहने मात्र में पूरा-पूरा संतोष अनुभव करना चाहिए।

सोते समय ईश्वर की अमानतें ईश्वर को सौंपने और स्वयं खाली हाथ प्रसन्नचित्त विदा होने की, निद्रा देवी की गोद में जाने की बात सोचनी चाहिए। हलके मन से शांतिपूर्वक गहरी नींद में सो जाना चाहिए। चिंता, आशंका, खीझ, क्रोध जैसी किसी भी उद्विग्नता को मन पर लादकर नहीं सोना चाहिए। यह प्रयास शांत निद्रा लगने की दृष्टि से भी उपयोगी है। साथ ही आत्मपरिष्कार की दृष्टि से भी अति महत्त्वपूर्ण है।

मृत्यु को भूलने से ही जीवन-संपदा को निरर्थक कामों में गँवाते रहने की चूक होती है, दुष्कर्म बन पड़ते हैं और वासना, तृष्णा, अंहता की क्षुद्रताओं में समय गुजरता है। यदि यह ध्यान बना रहे कि मृत्यु का निमंत्रण कभी भी सामने आ सकता है, तो यह ध्यान बना रहेगा कि इस महान अवसर का सही उपयोग किया जाए और पूरा लाभ उठाया जाए। निद्रा की तुलना मृत्यु से करते रहने पर मौत का भय मन से निकल जाता है और अलभ्य अवसर के सदुपयोग की बात चित्त पर छाई रहती है।

सिकंदर मौत को भूला रहा। उसे मरते समय अपनी कमाई संपदा साथ न ले चल सकने की विवशता पर भारी दु:ख हुआ और सिर धुनकर पछताया कि यदि वस्तुस्थिति को अंत:चेतना समझ

सकी होती, तो मैं वैभव कमाने के स्थान पर महामानवों की तरह आदर्श जीवन जीने की नीति अपनाता और अपने साथ-साथ असंख्यों का उद्धार करता। उसने अपनी शवयात्रा में मृतशरीर के दोनों हाथ ताबूत से बाहर निकले रहने का आदेश दिया, ताकि दर्शक देख सकें कि सिकंदर कितना बुद्धिमान होते हुए भी कितना मूर्ख था? वह खाली हाथ आया और खाली हाथ चला गया।

राजा परीक्षित को शाप लगा था कि सातवें दिन सर्प के काटने से उनकी मृत्यु होगी। बची हुई थोड़ी-सी अवधि का उन्होंने श्रेष्ठतम उपयोग करने का निर्णय किया और शुकदेव जी की सहायता से किसी महत्त्वपूर्ण धर्मानुष्ठान में संलग्न होकर आत्मकल्याण संपन्न कर लिया।

मृत्यु के स्मरण को न तो डरावना माना जाना चाहिए और न अशुभ, उससे सिकंदर की तरह शिक्षा लेनी चाहिए कि व्यर्थ और अनर्थ के कामों में इस संपदा का अपव्यय न हो जाए। इस सतर्कता के साथ-साथ परीक्षित की तरह यह दूरदर्शिता भी प्रदर्शित करनी चाहिए कि बचे हुए समय का जीवन-साधना के रूप में श्रेष्ठतम सदुपयोग कर लेने का साहस जुटाने के लिए कटिबद्ध हुआ जाए।

हर दिन नया जन्म और हर रात नई मौत की मान्यता यदि गहराई तक हृदयंगम कर ली जाए, तो निरर्थक एवं अनर्थमूलक चिंतन एवं कर्म निरंतर घटते चले जाएँगे और सद्भावनाओं का, सत्प्रवृत्तियों का उत्कर्ष द्रुतगति से होता चला जाएगा। यही है वह मार्ग जिस पर चलने को जीवन-साधना कहते हैं और जिसके दृढ़तापूर्वक गतिशील रहने से जीवन-लक्ष्य की पूर्ति होती है।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा